❀ सर्वेभवन्तुसुखिनः ❀

अद्वैत दर्शन

अर्थात्

एक सत्तावाद

—लेखक—

परमहंस स्वामी गोविन्दानन्द सरस्वती

❀ सर्वेभवन्तुसुखिन: ❀

अद्वैत दर्शन

अर्थात्

एक सत्तावाद

—लेखक—

परमहंस स्वामी गोविन्दानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

परमहंस स्वामी गोविन्दानन्द सरस्वती,

परमार्थ निकेतन,

स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) ।

प्रथमवार — १००० प्रतियाँ

सम्वत् — २०१८

मूल्य — २.५० न०पै०

मुद्रक :

देवेन्द्र विज्ञानी,

विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश (उ०प्र०) ।

'ज्ञान' ही सर्व का स्व+रूप=आत्मा या सत्ता है

❀ सत्ता ही सर्व एवं सर्व ही एक है ❀

ALL−KNOWLEDGE=O

O+KNOWLEDGE=ALL

O+ONE=ALL & ALL−ONE=O

WHY ?

ALL IS ONE & ONE IS ALL.

WHAT IS ONE ?,—'I'

WHAT IS 'I',—KNOWLEDGE.

—लेखक—

श्रीमत्परमहंस वेदान्तवागीश

श्री १०८ स्वामी गोविन्दानन्द सरस्वती

गोविन्द-षोडशी

[विचार तथा धारण करने योग्य षोडशमंत्र]

१—यह प्रश्न और इसकी पूर्ति का साधन तो सभी करते हैं कि 'मेरा क्या है ?' किन्तु ऐसे लोग बहुत ही कम होंगे, जो इस प्रश्न को भी हल करना चाहते हों कि 'मैं कौन हूँ ?'

२—यदि 'मैं' से नाना प्रकार के विशेषण व उपाधियां हटा दी जायं, तो 'तू' वही है जो सर्व है।

३—जो व्यक्ति अपना मूल्य आप घटा देता है, उसका अधिक मूल्य कोई नहीं दे सकता। अपना वास्तविक मूल्य 'ब्रह्मत्व' है !

४—आत्मा से बढ़कर दूसरा कोई 'सत्य' नहीं और आत्म-साक्षात्कार से बढ़कर दूसरा कोई 'आनन्द' नहीं।

५—'मोक्ष, आत्मा, ईश्वर' किसी भी साधन से साध्य नहीं, क्योंकि वह स्वयं आप ही है।

६—जो 'आनन्द' किसी विषय या साधन के पराधीन है, वह वास्तविक आनन्द नहीं।

७—भावों से ही मनुष्यों की शक्तियों का विकास अथवा विनाश होता है।

८—ईश्वर व जगत को अपना आत्मा समझना ही बोध या मोक्ष है।

९—ब्रह्मादिक सारे देवता ऐसे पुरुष की वन्दना करते हैं जिसका ज्ञान व अभ्यास एक हो।

१०—मनुष्य ठीक उसी परिमाण से महान् बन सकता है, जिस परिमाण से वह मानवमात्र के कल्याण के लिए श्रम (साधन) करता है।

११—पत्थर की जो चट्टान निर्बल व्यक्तियों के मार्ग का रोड़ा होती है, वही शक्तिशाली (बुद्धिमान) के लिए सफलता की सीढ़ी बन जाती है।

१२—भाग्य के भरोसे रहना, आलस्य व असफलता को निमन्त्रण देना है।

१३—हे मनुष्य ! जैसा तू औरों से अपने लिए चाहता है, वैसा ही तू औरों के साथ कर।

१४—संसार इतना सम्पन्न (पूर्ण) नहीं है, जो हमारी अभिलाषाओं को पूर्ण कर सके, क्योंकि इसकी स्थिति हमारे संकल्प में है। स्वप्न-सृष्टि क्या कभी स्वप्नद्रष्टा की कमी को पूरा कर सकती है, जब तक कि वह जाग्रत न हो जाय ?

१५—जो व्यक्ति पदार्थों, विषयों, इच्छाओं का दास है, वह उनका स्वामी कभी बन नहीं सकता।

१६—प्रारब्ध अज्ञानियों के आंसू पोंछने का एक पुराना रूमाल है।

विषय-सूची

गोविन्द-षोडशी	...	....	५
प्राक्कथन	...	...	६
ज्ञानदेव की महिमा	...	....	१३
मङ्गलाचरण	...	...	१
अद्वैत-मीमांसा	...	...	३
आत्म-कल्याण	...	...	२२
प्राणीमात्र का उद्देश्य	....	...	२७
अपना पता लगाना चाहिये !		...	३६
आत्मज्ञान का स्वरूप	....	...	४४
मैं कौन हूँ ?	...	...	४६
ज्ञान का वास्तविक स्वरूप	...	...	५५
अपना उद्धार ही सारे विश्व का कल्याण है !		...	७५
जगत् का वास्तविक स्वरूप	...	...	८२
कर्म का वास्तविक स्वरूप	....	...	८८
धर्म का वास्तविक स्वरूप	...	....	११०
प्राकृतिक एकता का स्वरूप	...	....	१२५
वास्तविक सिद्धान्त	....	...	१३४
आत्म-निवेदन	...	...	१५२
बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग साधन	...	...	१५६
ईश्वर का वास्तविक स्वरूप	...	...	१७४
प्राकृतिक एकता के बाधक	...	...	१६६

प्राक्कथन

शरीर स्वभाव से ही दुःखों की चौपाल है। जब भूल से उसको अपना आपा मान लिया जाता है, तब उस शरीर के जितने भी दुःख एवं आवश्यकतायें हैं, भौतिक होने से उसकी जितनी भी टूट-फूट होती हैं,—वे सब अपनी ही समझ ली जाती हैं। ये टूट-फूट कभी पूरी-पूरी हट नहीं सकतीं, इसी से हमारे दुःख कभी भी,—अनादि काल से आज तक, हट नहीं सके। शरीर, इन्द्रियों और मन की इस दुःखाभाव की मांग में हम भी अपनी 'हाँ में हाँ' मिला देते हैं,—इनकी मांग को अपनी मांग समझ लेते हैं।

भौतिक मकानों की टूट-फूट न होना जैसे असम्भव बात है, इसी प्रकार इनमें दुःखाभाव का हो जाना भी एक अनहोनी बात ही है। इन शरीरों का कोई-न-कोई कल पुर्ज़ा तो बिगड़ता ही रहेगा। हम अपनी मूर्खता से इसी अनहोनी बात के लिये आँख बन्द करके उद्योग किया करते हैं और असफल होते जाते हैं। दुःखों का अभाव कर ही नहीं पाते, क्योंकि दुःखाभाव का तो यह मार्ग ही नहीं है। तब से अब तक भी सुख न मिलने का कारण तो यह होता है कि जो वस्तु जहाँ है ही नहीं, उसको वहीं मांगा जाता है तथा जहां वह है, वहां उसके विषय में पूछताछ तक नहीं की जाती।

बेचारे ग़रीब विषयों के पास सुख है ही कहां कि वे दे सकें? जिसके पास जो नहीं है, उससे वह मांगना तो मांगने वाले की ही मूर्खता है। इसी मूर्खता का दण्ड दुःख के रूप में हम सब को भोगना पड़ता है। विषयों की गठरी में तो सुख के मुलम्मे में दुःख ही दुःख भरे हुए हैं। जब उनसे सुख मांगा जाता है, तब वे बेचारे अपनी गठरी से निकाल कर, दुःखों को ही सुख बता कर, दे देते हैं और अपनी बेसमझी के कारण हमें सुख की जगह भी दुःख ही भोगने पड़ जाते हैं।

इस प्रकार हम दुःखाभाव भी नहीं कर पाते और सुख भी हमें नसीब नहीं होते। तब क्या नित्य-सुख नाम की कोई वस्तु इस संसार में है ही नहीं? इसका उत्तर अध्यात्म-शास्त्र यह देते हैं कि सुख तो आत्मा का ही दूसरा नाम है। कस्तूरी-मृग जैसे अपनी ही कस्तूरी को तलाश करता फिरता है, वही मज़ाक हमने अपने ही इस सुख के साथ कर रक्खा है। फिर बतलाइए कि वह हमें विषयों में से क्यों कर मिल सकता है?

सुख जब विषयों की ओढ़नी ओढ़कर आता है, तब भी वह दुःख मिश्रित सुख ही होता है। विषयों के द्वारा आने वाले इस सुख का नाम 'विषय-सुख' हो जाता है। जब यह सुख बिना आवरण के, बिना किसी माध्यम या बहाने के, बे रोक-टोक होकर, नदी की बाढ़ की तरह उमड़ पड़ता है, नींद की तरह आक्रमण करता आता है,—तब इसी को 'केवल सुख' किंवा 'आत्मानन्द' कहते हैं।

'केवल सुख' कैसे प्राप्त किया जाय ? निरावरण, निर्व्याज, अखंड और निरापद आनन्द को कैसे पायें ? इसका उत्तर देना,—इसकी प्रक्रिया बताना ही 'राजयोग' का मुख्य काम है। उसी राजयोग पर श्री स्वामी गोविन्दानन्द सरस्वती ने 'न भूतो न भविष्यति' (न हुआ, न होगा) जैसा यह 'अद्वैत दर्शन' नामक अपूर्व ग्रन्थ लिखा है।

यद्यपि संस्कृत-ग्रंथों में इस तत्त्व का विशद वर्णन है, परन्तु क्लिष्ट होने के कारण सर्वसाधारण का उसमें प्रवेश नहीं हो पाता। आत्मा के सुखरूप तक पहुँच सकने की प्रक्रिया, को समझाते हुए राजयोग का इतना मार्मिक, सरल, स्पष्ट और अनुभव-पूर्ण वर्णन किया है कि पाठकों को इस वर्णन में अनोखी, सरल और नवीन-नवीन युक्तियों से अपनी ही दिनचर्या लिखी हुई मालूम होने लगती है। उसे यह अपनी ही जन्म-गाथा का उल्लेख अथवा अपने ही विचारों का संकलन किया हुआ प्रतीत होता है।

राजयोग कितना स्वाभाविक है, यह इसको भले प्रकार देखने से समझ में आ जायगा। गीता में जो राजयोग को 'सुसुखं कर्तुमव्ययम्' करने में आसान से भी आसान बताया है, वह भी इसको देखकर मान लेना पड़ेगा। इसके पढ़ते-पढ़ते ही मन्त्र और औषधि से बद्धवीर्य साँप की तरह पाठकों का मन बड़ी अद्भुत अवस्था में जा पहुँचता है। वह कभी खड़ा हो जाता है तो कभी स्तब्ध हो जाता है।

ज्ञान में कितनी मस्ती होती है ? 'सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने

परिसमाप्यते'—ज्ञान होने पर कर्मों का पूर्ण विराम कैसे हो जाता है? सो इसको पढ़ने ही से अनुभव में आ जायगा। राजयोग के प्रभाव से किस प्रकार ज्ञानी का दृष्टि-विपर्यय हो जाता है? फिर वह संसार को कैसे दूसरे पहलू से देखने लग पड़ता है? ज्ञान-किस तरह उसे भूत बन कर चिपट जाता है? उसे किस अद्भुत ढंग से असंग रहना आ जाता है? वह कैसे अन्तः शीतल हो जाता है? वह कैसे जागता हुआ भी होश की नींद सो लेता है? वह कैसे अखण्ड ज्ञान-दीपक जलाकर सर्वभाव से उसी की सेवा में मस्त हो जाता है? वह इच्छारूपी कूड़े से ढके हुए सच्चिदानन्द को कैसी-कैसी लोरियों में लाकर जगा लेता है? अनुभव हो जाने पर साधक को कैसा सात्विक गर्व आता है?—यह सब कुछ इस पुस्तक में देखने को मिलेगा।

इस 'अद्वैत-दर्शन' नामक अपूर्व ग्रंथ को श्री स्वामी जी ने भक्तों के विशेष आग्रह से, उन पर द्रवित होकर, लिखने का कष्ट किया है। उनके इस विशेष कष्ट के लिये आध्यात्मिक संसार उनका आभारी है। ऐसे ही महान् पुरुषों से समय-समय पर सर्वसाधारण को प्रेरणा मिलती रहती है और मिलती रहेगी।

—साधु के वेश में एक 'मानव'

* सर्वंखल्विदंब्रह्म *

।। प्रज्ञानंब्रह्म ।। अयमात्माब्रह्म ।। अहंब्रह्मास्मि ।। तत्त्वमसि ।।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते,
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

ज्ञानदेव की महिमा

'ज्ञानदेवतुकैवल्यं'—इस श्रुति वाक्य एवं स्वानुभव से ज्ञात होता है कि मानव-जीवन की प्रत्येक समस्यायें या हर प्रकार की कमी आदि की पूर्ति केवल यथार्थ ज्ञान से ही हो सकती है। व्यावहारिक जीवन में भी यथार्थ ज्ञानपूर्वक साधन से ही सभी कार्यों की सिद्धि हो सकती या होती है।

मानव-जीवन के समक्ष एक प्रकार की कमी का अनुभव होता रहता है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मों (साधनों) के द्वारा वह उसी कमी को पूरा करने में लगा रहता है। जब तक वह पूरी नहीं हो जाती, तब तक विश्राम नहीं मिलता और इसकी पूर्ति चक्रवर्ती राज एवं स्वर्ग का आधिपत्य (इन्द्रासन) आदि प्राप्त हो जाने पर भी नहीं हो सकती। इसीलिये तो अर्जुन श्रीकृष्ण (साकार ब्रह्म) से,—जो कि भक्ति

के फलस्वरूप प्रत्यक्ष (सामने) विराजमान थे,—इतना होने पर भी कातरस्वर (आर्तनाद) से कह रहा है—

नहिं प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

अर्थ—ऐ प्रभो ! मेरे मन-इन्द्रियों को संतप्त (क्षुब्ध) करने वाले ये जो शोक व मोह हैं,—मैंने भली प्रकार से अनुभव (निश्चय) करके देख लिया है कि यदि मुझे सारी पृथिवी का आधिपत्य (सम्राट् पद) एवं स्वर्ग का साम्राज्य भी प्राप्त हो जाय, तो भी ये निवृत्त नहीं हो सकते। किसी करोड़ोंपति सेठ का दीवाला निकल जाय और उसके बदले में दो-चार हज़ार रुपये मिल जायं तो भला इससे उसे कैसे संतोष हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार से एक कमी के कारण हर प्रकार की कमी का अनुभव जीवन पर्यन्त, त्रिलोकी का साम्राज्य प्राप्त हो जाने पर भी जीव करता ही रहता है। संतोष कभी हो नहीं सकता, जब तक कि वह उस एक कमी को पूरा न कर ले।

अच्छा, तो वह कौन-सी कमी है ? अपने वास्तविक स्वरूप (सत्ता-सामान्य) में स्थिति का अज्ञान। सविशेष स्वरूप (शरीर-धारी वृत्ति उपहित चेतन) में तो अनात्म परिच्छिन्न 'अहं'—'मैं' के रूप में सभी स्थित ही हैं। यह कल्पित उपाधि ही तो सारी कमी, परिच्छिन्नता, दीनता, हीनता, आदि का एक मात्र मूल कारण है। यद्यपि इस उपाधि की भी सत्ता सामान्य (पूर्ण-चैतन्य) से कोई पृथक् सत्ता नहीं है, किन्तु ऐसा बोध तो नहीं है।

वह अपना वास्तविक स्वरूप निजात्मा (सत्ता सामान्य) कहां और किस प्रकार का है कि जिस में स्थित होने से हम सभी को स्थाई विश्राम हो सकता है ? हम सभी का वास्तविक स्वरूप चेतन (ज्ञान) तत्त्व है। इसी पूर्ण ब्रह्म के किसी एक अंश मात्र में समष्टि संकल्प (वृत्ति उपहित चेतन, ज्ञान या ईश्वर) है। उस संकल्प के किसी अंश मात्र में अनन्त आकाश है और आकाश के किसी अंश मात्र में असंख्य सूर्य एवं असंख्य ब्रह्माण्ड स्थित हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अनन्त प्रकार की अनन्त-सृष्टि है।

अत: व्यष्टि संकल्प भी समष्टि संकल्प के अन्तर्गत ही है और संसार एवं व्यक्तिगत शरीर भी संकल्प का ही स्थूलरूप है। जिस प्रकार विद्युच्छक्ति की तीन स्थिति हैं,—कारण, सूक्ष्म, स्थूल (प्रत्यक्ष)। एलैक्ट्रन-प्रोटन कारण (सत्ता सामान्य) रूप, व पावर हाउस के द्वारा शक्ति के रूप से प्रकट नैगेटिव-पोजेटिव सूक्ष्मरूप, वही शक्ति बल्व में प्रकाश-रूप से प्रत्यक्ष स्थूल रूप है। इसी प्रकार शुद्ध चेतन सत्तासामान्य (पूर्ण ब्रह्म) तत्त्व कारण रूप है, समष्टि संकल्प (वृत्ति उपहित चेतन) सूक्ष्म रूप है, शरीरों में वृत्तिज्ञान के रूप मेंप्रत्यक्ष स्थूल (विशेष) रूप है। किन्तु विद्युत-वत् तीनों चेतन की स्थितियां या स्वरूप एक ही हैं।

अथवा चेतनदेव (पूर्णब्रह्म) की महिमा व शक्ति को प्रकट या प्रत्यक्ष करने की तीन उपाधियाँ यानी शरीरें हैं। ईश्वर (समष्टि संकल्प) या प्राज्ञ कारण शरीर है, देवता या तैजस सूक्ष्म शरीर

है, मनुष्य या विराट् स्थूल शरीर है। अथवा ज्ञान भगवान का समष्टि वृत्ति या बुद्धि कारण शरीर, समष्टि शब्द सूक्ष्म शरीर, समष्टि पुस्तकें स्थूल शरीर हैं। कार्य को देखकर ही कारण की महिमा का ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली अनन्त सृष्टि जिस चेतनदेव (ज्ञान तत्व) की महिमा एवं साम्राज्य का किंचित चमत्कार मात्र है। तो फिर इस शरीरधारी (परिच्छिन्न) कैदी) चेतनदेव को इन भौतिक तुच्छ विभूतियों, ऋद्धियों, सिद्धियों, साम्राज्यों आदि से संतोष (कमी की पूर्ति) कैसे हो सकता है, जब तक कि उसी अपने स्वात्मानन्द के सिंहासन, वास्तविक स्वरूप ब्रह्मत्व में पूर्ण रूप से न स्थित हो जाय ? वास्तव में तो इस प्रकार की स्थिति ब्रह्मत्व में न मानना ही तो वह एक कमी है कि जिसके पूरा हुए बिना और किसी प्रकार भी कमियों की पूर्ति हो नहीं सकती।

तंरगों की स्थिति या सत्ता समुद्र (जल) से भिन्न कहाँ है कि जिसमें पुनः किसी साधन द्वारा स्थित होना है। तात्पर्य यह है कि मानने या विश्वास करने से जिस वस्तु की प्राप्ति होती है, विश्वास के समाप्त होते ही उस वस्तु की भी समाप्ति हो जाती हैं। किन्तु वस्तु या तत्व के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान या बोध से जिसकी अनुभूति होती है, उसकी निवृत्ति कभी हो नहीं सकती, क्योंकि ज्ञान, बोध, अनुभूति आदि उसका (आत्मा का) स्वरूप ही है।

किसी अनुभवी मस्त महात्मा ने किसी नगर में जाकर यह

घोषणा कर दी कि जिसे ईश्वर का दर्शन करना हो, आ जावे। एक व्यक्ति ने जाकर महात्मा से प्रश्न किया कि क्या आपका ईश्वर में विश्वास है? महात्मा ने कहा कि नहीं, किंचितमात्र भी नहीं। वह आश्चर्य में पड़कर कहने लगा कि अभी तो आप कहते थे कि मैं ईश्वर का दर्शन कराऊँगा और अब कह रहे हो कि ईश्वर में मेरा विश्वास ही नहीं, यह क्या बात है?

महात्मा ने कहा कि मेरा विश्वास ईश्वर में इसलिए नहीं है कि उसे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। प्रश्नकर्ता ने कहा कि यदि उसे देख रहे हो, तो बताओ वह कहाँ है? महात्मा ने जूता पहिने हुए पैर को भूमि पर मारकर कहा कि यहाँ है। यह दृश्य देखते ही वह व्यक्ति घबड़ा कर हाय-हाय करता हुआ कहने लगा कि नास्तिक, महा नास्तिक! ओह, इस साधु का दर्शन करना महा पाप है! ऐसा कहता हुआ वह भागने लगा। महात्मा ने फौरन उसके हाथ पकड़ लिये और बोले कि ओ आस्तिक के बच्चे, सुन! ईश्वर व्यापक है या परिच्छिन्न? उस व्यक्ति ने कहा कि व्यापक है। तब महात्मा ने कहा कि यहाँ (जूता मारने वाली भूमि) पर क्या तेरा बाप है?

वास्तव में विचार करके देखा जाय तो जगत् से भी अधिक व प्रथम ईश्वर (चेतन आत्मा) प्रत्यक्ष है। नामरूपात्मक जगत तो पश्चात् दृष्टि आता है, किन्तु इसके दीखने से प्रथम ही इस जगत (सर्व) के अधिष्ठान ईश्वर (ज्ञान तत्व) का दर्शन होता है।

जैसे कार्य नामरूपात्मक (अध्यस्त) भूषणों के दीखने से प्रथम कारण (अधिष्ठान) स्वर्ण का दर्शन सभी को होता है।

अथवा वह कौन-सा तत्व है जिसको प्रथम देखे बिना और कुछ देख ही नहीं सकते? वह तत्व प्रकाश है! इसलिए दृश्य से अधिक एवं प्रथम प्रत्यक्ष प्रकाश है जिसका कोई महत्व ही नहीं। वह कौन-सा परम तत्व (शक्ति) है, जो प्रकाश से भी प्रथम व अधिक प्रत्यक्ष है और जो किसी गिनती में ही नहीं है? क्या ज्ञान (चेतन) के बिना प्रकाश एवं तज्जन्य दृश्य कभी भी, किसी प्रकार से भी, देखा जा सकता है? कदापि नहीं!

यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गई कि नामरूपात्मक दृश्यमान जगत के दीखने से प्रथम दीखने वाला व अधिक प्रत्यक्ष प्रकाश है। इस प्रकाश से भी प्रथम व अधिक प्रत्यक्ष ज्ञान तत्व है। यही ज्ञान (चेतन) तत्त्व सर्व शरीरधारी प्राणियों का 'मैं' या 'अहं' रूप से प्रत्यक्ष अन्तरात्मा है। इसी चेतन तत्व को ही ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, गॉड, खुदा आदि नामों से कहा जाता है। इस प्रकार का ज्ञान (बोध) होना ही अपने स्वात्मानन्द के सिंहासन अर्थात् स्वयंप्रकाश, स्वसंवेद्य, सत्तासामान्य, निजात्मा में स्थित होना है।

उपरोक्त सारी बातें बिलकुल सीधी-सादी सरल हैं, किन्तु संस्कारजन्य दोष के कारण उलटी-पुलटी समझकर एवं अर्थ का अनर्थ करके प्रायः लोग चक्कर में पड़े रहते हैं। जिस प्रकार व्यावहारिक बोल-चाल में लोग कहा करते हैं,—'सड़क चल रही

है, कुंआ चल रहा है, स्टेशन आ गया, आश्रम चला रहे हैं, सूर्य अस्त हो गया या उदय हो रहा है, सूर्य या चन्द्र ग्रहण लगा है।' इन वाक्यों का उच्चारण लोग बिना अर्थ जाने ही करते रहते हैं। यदि विचार किया जाय तो उपरोक्त वाक्यों का अर्थ यथार्थत: कुछ और ही निकलता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

कहने और समझने में ही लाखों फेर होते हैं।
वह चिड़िया कौन-सी है जिसके सिर पर पैर होते हैं?

इसी बात पर मुझे एक घटना याद आ गई। एक बार मैं गंगा के किनारे पैदल यात्रा करता हुआ कानपुर से आगे एक ग्राम के निकट पहुँचा। गांव के बाहर एक सज्जन मिले। उन्होंने मुझे अपने निकट बुलाकर पूछा—'क्या तुम चमार की रोटी खा सकते हो?' मैंने कहा – 'श्रीमान जी! रोटी तो गेहूं, जव, चना, जुआर, बाजरा, मकई आदि की होती है। चमार की रोटी तो आज तक मैंने न देखी, न सुनी।' प्रश्नकर्ता ने कहा—'तुम मेरी बात नहीं समझे।' मैंने कहा—'समझाइए!'

प्रश्नकर्ता--क्या तुम चमार के साथ रोटी खा सकते हो?

मैं--नहीं खा सकते, क्योंकि रोटी दाल, साग, भाजी, दही, चटनी, अचार आदि के साथ खाई जाती है। चमार के साथ रोटी खाना असम्भव है।

प्रश्नकर्ता--तुम बिलकुल ही मूर्ख जान पड़ते हो। मेरी बात ही नहीं समझ सकते।

मैं—क्या करूं, बुद्धि ही इतनी है। आप समझाने की कृपा कीजिए !

प्रश्नकर्ता—क्या तुम और चमार एक थाली में बैठकर रोटी खा सकते हो ?

मैं—नहीं, कदापि नहीं। प्रथम तो एक थाली में चमार और मैं बैठ ही नहीं सकते। यदि मान लो कि बैठ भी जायँ, तो फिर भोजन कहाँ रखेंगे ?

प्रश्नकर्ता (क्रोधावेश में आकर)—तुम इतने मूर्ख व पागल हो कि कुछ समझते ही नहीं। तुम्हारे जैसे मूर्खों ने ही तो संसार को भ्रष्ट किया है। तुम्हें मेरे से शिक्षा लेनी चाहिये !

मैं—आपकी बड़ी कृपा होगी। आप जैसे बुद्धिमानों से यदि मैं शिक्षा नहीं लूंगा, तो फिर और किस से लूंगा ? दिखलाइए चमत्कार अपनी बुद्धि का !

प्रश्नकर्ता—सुनो मेरी बात ! मैंने मदिरा, मांस आदि सभी अभक्ष्य वस्तुओं को खाया, चोरी, डाका, व्यभिचार, जुआ आदि जितने भी संसार में बड़े-से-बड़े पाप कर्म हैं, सभी किए किन्तु अभी तक मैंने अपना धर्म नहीं छोड़ा।

मैं आश्चर्य में पड़कर पूछने लगा कि श्रीमान् जी वह कौन-सा धर्म है, जो इतना होने पर भी आपने नहीं छोड़ा ? प्रश्न-कर्ता ने बतलाया कि किसी साले को चौके में अभी तक नहीं आने दिया और न ही किसी ससुरे का छुआ हुआ पानी ही अभी तक पिया है।

अब आप लोग स्वयं विचार कर सकते हैं कि 'उलटे चोर कोतवाल को डाटे' वाली कहावत यहाँ चरितार्थ हो रही है। जो बात मुंह से बोल रहे हैं, उसका अर्थ समझ तो स्वयं ही नहीं रहे, किन्तु न समझने का दोषारोपण दूसरे पर हो रहा है।

फिर मैंने कहा कि धन्य हैं धर्मात्मा जी महाराज! आप जैसे धर्मात्माओं के द्वारा ही तो यह पृथिवी टिकी हुई है, नहीं तो अब तक कभी की रसातल को चली गई होती।

जितने भी वाक्य, बिना उनका अर्थ समझे, अज्ञान पूर्वक बोले जाते हैं, उनमें से यहाँ एक का उल्लेख करना असंगत न होगा। सूर्य-ग्रहण के विषय में यहाँ कुछ विचार प्रस्तुत किया जाता है।

ग्रहण लगने पर प्रत्यक्ष देखने में आता है कि सूर्य या चन्द्र को किसी ने ढक या आच्छादित कर लिया है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष प्रतीति किसको और क्यों होती है? पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों को ही ग्रहण भासता है। सूर्य-चन्द्र को नहीं भासता, क्योंकि उनमें वह है ही नहीं।

पृथिवी एवं सूर्य के मध्य में अर्थात् पृथिवी के सामने जब चन्द्रमा आ जाता है, तो सूर्य का प्रकाश पृथिवी पर नहीं पड़ता। ऐसी परिस्थिति को सूर्यग्रहण कहा जाता है। इसी प्रकार से रात्रि को सूर्य और चन्द्रमा के मध्य में पृथिवी आ जाती है तो, चन्द्रमा पर सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता। ऐसी परिस्थिति को चन्द्रग्रहण कहते हैं। तात्पर्य यह कि जब सूर्य का प्रकाश पृथिवी

पर नहीं पड़ता तो सूर्यग्रहण और जब चन्द्रमा पर नहीं पड़ता तो चन्द्रग्रहण कहलाता है। दोनों प्रकार के ग्रहण पृथिवी पर स्थित मनुष्यों को ही भासते हैं। सूर्य अथवा चन्द्र किसी के द्वारा आच्छादित कदापि नहीं हो जाते।

इसी प्रकार सर्व का अपना स्वयं आत्मा सूर्य है, मन चन्द्रमा है, शरीर पृथिवी है। जिस समय शरीर के सामने मन आ जाता है अर्थात् मन एवं शरीर का जब सम्बन्ध होता है, तब सूर्यग्रहण यानी आत्मा में अज्ञान व बन्धन का आरोप होता है, जो सर्वथा असम्भव है। जब मन के सामने शरीर आ जाता है अर्थात् मन का शरीर में 'अहं' या 'मैंपन' की भावना से तादात्म्या-ध्यास हो जाय तो चन्द्रग्रहण यानी अविद्या से बुद्धि आच्छादित हो जाती है। सूर्य (आत्मा) के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाने से ग्रहण (बन्धन, अज्ञान) के भय का भ्रम सर्वथा निवृत्त हो जाता है।

यह ग्रहण लगता क्यों है? पौराणिक इतिहास से ज्ञात होता है कि जिस समय विष्णु भगवान समुद्र से निकले हुए अमृत को देवताओं को पिला रहे थे, उसी समय राहु नाम का दैत्य भी छिपकर देवताओं की पंक्ति में बैठ गया। सूर्य व चन्द्रमा ने विष्णु को इसका संकेत कर दिया। भगवान ने उस दैत्य का सिर चक्र से काट दिया। सिर व धड़ (शरीर) अलग-अलग होने पर भी, अमृत पी लेने के कारण, वह दैत्य मरा नहीं, किन्तु राहू व केतु नाम के दो दैत्य हो गए। इसी शत्रुतावश राहु ने सूर्य

और केतु ने चन्द्रमा को आच्छादित करना प्रारम्भ कर दिया।

इस कथा का भावार्थ (तात्पर्य) इस प्रकार से है। जब संसार रूपी समुद्र का मन्थन अर्थात् सत्-असत् विवेक (विचार) किया जाता है,तो अमृत यानी सत् आत्मा की उपलब्धि या साक्षात्कार होता है। गुरु रूपी विष्णु के द्वारा देवताओं (मुमुक्षुओं) को ज्ञानामृत का आत्म या अहं रूप से अनुभव कराया जाता है। तब उस शिष्य में ज्ञान व त्याग का अनात्म अभिमान रूपी राहू घुसता है, जिसका पता ज्ञान (विवेक) रूपी सूर्य व शान्ति रूपी चन्द्रमा द्वारा ही लगता है। इस अनात्माभिमान का नाश करने के लिए गुरु आत्मा को अद्वितीय और अज्ञान या अभिमान को कल्पित दर्शाता है, किन्तु अधिष्ठान रूप होने से, इसकी निवृत्ति सर्वथा निःशेष रूप में नहीं होती। प्रातिभासिक रूप से यह अनात्माभिमान बना ही रहता है।

यदि ऐसा न होता तो जगत का अस्तित्व ही अब तक समाप्त हो गया होता। उस अनात्माभिमान के दो टुकड़े हो गए--'मैं' व 'मेरा'। मैं आत्मज्ञान को और 'ममता' शान्ति को आच्छादित करती रहती है। वास्तव में आत्म सूर्य इन व्यर्थ की कल्पनाओं से सर्वथा असंग है।

उपरोक्त विचार करने से ज्ञात होता है कि किसी भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ठीक-ठीक बोध हो जाने पर मानव-जीवन की भ्रान्तिजन्य सभी बड़ी समस्यायें, नाना प्रकार के संशय, चिन्ता,

शोक, मोह, अज्ञान, बन्धन, भय आदि निवृत्त होकर, उसे अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव होने लगता है।

मनुष्य के व्यावहारिक एवं पारमार्थिक (आध्यात्मिक) क्षेत्र (जीवन) में केवल ज्ञान की ही महिमा, प्रतिष्ठा, प्रभाव आदि विशेषताएँ देखने में आ रही हैं। कर्म भी बिना ज्ञान की सहायता के हो ही नहीं सकता,—जैसे विना प्रकाश के कोई कार्य नहीं हो सकता। समस्त विश्व का नियन्त्रण या संचालन (समस्त व्यवहार) ज्ञान के ऊपर ही निर्भर है। क्या हम लोग संसार में देखते नहीं हैं,—एक मज़दूर बारह-बारह घंटे कठिन से कठिन परिश्रम करता है। उसे अधिक से अधिक दो रुपये मज़दूरी मिलती है, खाने के लिए रूखा-सूखा भोजन, पहिनने के लिए फटे-पुराने, मैले वस्त्र, रहने के लिए टूटी-फूटी झोंपड़ी और आदर सत्कार कुछ भी नहीं मिलता।

इसके विपरीत उसी विभाग का एक इञ्जीनियर परिश्रम नाम-मात्र को करता है। उसके लिए कार पर सवारी, रहने के लिए बड़े-बड़े बंगले, अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र, मान-प्रतिष्ठा, हज़ारों रुपये वेतन आदि क्यों है ? यह सब ज्ञान या विद्या का महत्त्व है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है :—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

गी० अ०, ४-३३

अर्थात् समस्त यज्ञ कर्मादि जितने भी साधन हैं, उन सभी में

प्रतिष्ठित श्रेष्ठ ज्ञान है, क्योंकि समस्त कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं अर्थात् ज्ञान (चेतन) ही सर्व का आदि कारण अधिष्ठान है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
गी०, अ० ४-३७

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
गी०, अ० ४-३८

उपरोक्त श्लोकों का तात्पर्य यही है कि ज्ञान से बढ़कर इस मनुष्य को पावन (पवित्र) करने वाला इस समस्त विश्व में कोई नहीं, क्योंकि ज्ञानरूपी अग्नि इसके समस्त (संचित, क्रियमाण, प्रारब्ध) कर्मों, अज्ञान, बंधन, शोक, मोह, जन्म-मृत्यु आदि दुःखों की कारण भ्रांति को भस्म (निवृत्त) कर डालता है।

इस प्रकार से जिस ज्ञान तत्त्व की महिमा का बखान हो रहा है, वह तो स्वयं सर्व का अपना आत्मा ही है और यही ज्ञान (चेतन देव) समस्त विश्व की सत्ता (अधिष्ठान) रूप ही है। जो इस प्रकार की सर्वात्म-भावना अर्थात् ईश्वरमय ही जगत् को अनुभव करता है, उस महात्मा की प्रशंसा श्रीकृष्ण एवं श्री रामचन्द्र ने अपने मुखारविन्द से स्वयं की है:—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।'
'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ।'
'सप्तम सम मोहिमय जग देखा, मोते अधिक संत कर लेखा ।'

अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से जो सर्वभूत प्राणियों में एक अपने ही आत्मा को अनुभव करता है और शारीरिक (व्यावहारिक) दृष्टि से सर्व के दुःख-सुख को अपने जैसा देखता है, वह मेरे मत से परम योगी है।

सर्व भूत प्राणियों के हित में रत रहने वाले सर्वात्मवादी परमहंस महात्माओं की महिमा सर्वोत्कृष्ट है। ऐसा क्यों है? इस विषय में एक उदाहरण देना अत्युत्तम होगा।

एक परमहस दयालु महात्मा संसार के प्राणियों को अधिकांश में दुःखी देखकर विचार करने लगे कि किस प्रकार से समस्त संसार के सभी दुःख सदा के लिए समाप्त किए जा सकते हैं? तब विचार में आया कि यदि सर्वशक्तिमान् ईश्वर को प्रसन्न करके प्रकट (प्रत्यक्ष) किया जाय तो यह महान कार्य सुगमतापूर्वक सिद्ध हो जायगा। इसके लिए महात्मा ने घोर पर्वत की कन्दरा (गुफ़ा) में जाकर उग्र तप प्रारम्भ कर दिया। लगभग बारह वर्ष घोर तपश्चर्या करने के पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रकट होकर महात्मा से कहने लगे कि हम लोग तुम्हारे ऊपर बहुत ही प्रसन्न हैं, जो वर चाहो, मांग लो।

महात्मा ने कहा—मैं जो कुछ चाहता हूं, क्या वह आप लोग पूरा कर सकते हैं?

त्रिदेवों ने कहा कि ऐसी कौन-सी बात है जो हम लोग नहीं कर सकते ! हम असम्भव को भी सम्भव कर सकते हैं।

महात्मा ने कहा कि मुझे तो आशा नहीं है कि आप लोग उस कार्य को कर सकेंगे ? क्योंकि यदि आप लोगों में उस कार्य को करने की सामर्थ्य होती तो अब तक कर दिया होता। क्या आप लोगों का अस्तित्व आज ही हुआ है ?

त्रिदेवों ने कहा कि नहीं, हम लोग तो अनादि-अनन्त हैं।

महात्मा ने कहा कि क्या आप लोगों को यह संसार कभी दृष्टि आता है या नहीं ?

त्रिदेवों ने उत्तर दिया कि हां, आता है।

महात्मा—इस जगत में किसी प्रकार का कोई दुःख भी है या नहीं ? त्रिदेवों ने कहा कि अधिकांश में दुःख-ही-दुःख है।

महात्मा—संसार के समस्त दुःखों को निवृत्त करने का विचार कभी आप लोगों ने किया है ? त्रिदेवों ने उत्तर दिया कि नहीं।

महात्मा—यदि आप लोग सर्व-समर्थ हैं और मुझे प्रसन्न होकर कुछ देना ही चाहते हैं, तो संसार के समस्त दुःखों को सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर दीजिए।

त्रिदेवों ने कहा कि इस कार्य को करने में हम लोग असमर्थ हैं,—और कोई वरदान मांग लो।

महात्मा ने क्रोधावेश में कहा—चले जाओ यहाँ से, यह खेलने के खिलौने (वरदान) किसी बच्चे को जाकर दो !

त्रिदेवों ने समझाया कि, महात्मा जी! जबकि आप इस बात को जानते हैं कि 'दृष्टिरेवसृष्टि' अर्थात् आपके संकल्प ने ही स्वप्नवत् जगत् एवं दुःखी प्राणी आदि के रूप को धारण किया है, तो फिर इन सारे प्रपंचों का उत्तरदायित्व किस पर है? जब केवल एक चेतन सत्ता ही सर्वरूप है तो फिर हम लोग (ईश्वर), जगत, दुःख आदि कहाँ है कि जिससे आप लोगों को मुक्त करना चाहते हैं! इस प्रकार से निश्चय (ज्ञान) करके अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाइए। यही सारे जगत् के दुःख को सदा-सर्वदा के लिए निवृत्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। इस प्रकार जीवन्मुक्त की स्थिति से मुमुक्षुओं (जिज्ञासुओं) को सदुपदेश दीजिये। इतना कह कर वे सभी वहीं अन्तर्धान अर्थात सत्तासामान्य में स्थित हो गए।

उपरोक्त विचार से ज्ञात होता है कि स्वरूप में स्थित हुए मुक्तात्मा दो प्रकार के हुआ करते हैं,—प्रथम विदेहमुक्त, दूसरे जीवन्मुक्त। विदेहमुक्त को ही दूसरे शब्दों में जीवनमृत भी कह सकते हैं। यह स्थिति पहुँचे हुए की हुआ करती है जो कि फिर व्यवहार में नहीं आ सकता। ऐसे महानुभावों के द्वारा विशेष लाभ नहीं पहुँचता। जीवन्मुक्त लौटे (वापस) हुए को कहते हैं। जैसे कोई विदेष जाकर, वहाँ की विद्या आदि सीखकर स्वदेश में आकर उसका प्रचार करे,—इसी प्रकार स्व-स्वरूप का अनुभव प्राप्त करके, व्यवहार को भी परमार्थ रूप समझता हुआ, स्वानुभव का सन्देश अन्य जिज्ञासुओं को भी सुनाता रहे। व्यास, वशिष्ट,

याज्ञवल्क्य, राजा जनक, शुकदेव, राम, कृष्ण, प्रभृति एवं औपनिषद्, शास्त्रज्ञ, दार्शनिक तत्ववेत्ता आदि ऐसे ही हो चुके हैं। ऐसे महान पुरुषों का जीवन, विद्या, ज्ञान, अनुभव आदि जनता-जनार्दन के अज्ञान, बन्धन, दुःख निवृत्त करने के लिए परमोपयोगी, महान हितकर तथा कल्याणकारक होते हैं।

अब अन्त में उपरोक्त ब्रह्मविद्या (वेदान्त) के द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त करने के अधिकारी (जिज्ञासु, मुमुक्षु) के विषय में भी कुछ विचार कर लेना उचित ही होगा। वैसे तो शरीरधारी प्राणीमात्र ही आत्मज्ञान के अधिकारी हो सकते हैं, क्योंकि जिस आत्मा या ईश्वर का ज्ञान (बोध, अनुभव) प्राप्त करना है, वह तो सभी का अपना स्वयं ज्ञान (चेतन) रूप से आत्मा ही है। इसलिए अपने आपे का ज्ञान (अनुभव) प्राप्त करना सभी का स्वाभाविक अधिकार ही है। उपनिषदों, योगवाशिष्ट आदि ब्रह्मविद्या के सद्ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि पशु-पक्षियों ने भी आत्मज्ञान के निरूपण किये हैं।

अन्य शरीरधारी प्राणियों (पशु-पक्षियों) में मनुष्य जैसी विवेक बुद्धि विकसित नहीं है, इसीलिए ये लोग आत्मज्ञान के लिए साधन नहीं कर सकते। वही जिज्ञासु मनुष्य सरलता, सुगमतापूर्वक आत्म-साक्षात्कार कर सकता है जो विवेक द्वारा शरीर व संसार को अनित्य, क्षणभंगुर, समझकर, उस कमी का अनुभव करने लगे कि जिसको पूरा कर लेने से शेष सभी कमियाँ अपने आप स्वयं ही पूरी हो जाती हैं। श्रुति का वाक्य भी ऐसा ही

है—'एके न ज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातम् भवति'—अर्थात् वह कौन एक ऐसा तत्व है जिसके जान लेने से सब जाना जाता है ? ज्ञान स्वरूप सर्वाधिष्ठान चेतन आत्मा ही वह परम तत्व है ।

अब विचार इस बात का करना है कि जिस अद्वितीय आत्मा के अज्ञान के कारण ही अन्तःकरण और उसके कार्य मल, विक्षेप, आवरण आदि दोषों की कल्पित भ्रान्ति एवं प्रतीति हो रही है, उसी शुद्ध चिन्मात्र आत्मतत्व के ज्ञान से ही उपरोक्त अन्तःकरण के तीनों दोषों की निवृत्ति हो सकती है,—अन्य और किसी भी साधन के द्वारा नहीं हो सकती ।

कोई मनुष्य कीचड़ से लथपथ होकर अपने घर जा रहा हो और मार्ग में उसे कोई रोकने लगे कि तुम्हारा अपने घर जाने का कोई अधिकार नहीं, पहिले कीचड़ धोकर शुद्ध होने के बाद ही घर जा सकते हो। ऐसा कहना (या मानना) क्या न्यायसङ्गत हो सकता है ? कदापि नहीं, क्योंकि कीचड़ की सफाई (शुद्धि) व विश्राम आदि तो अपने घर में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं ।

वास्तव में तो ज्ञान होने (आत्म-साक्षात्कार) को मानने से 'वदतो व्याघात' दोष उपस्थित होता है, क्योंकि यदि आत्मज्ञान स्वतःसिद्ध, सर्वप्रथम अपरोक्ष-स्वरूप न हो, तो अज्ञान, उसका कार्य (अन्तःकरण) एवं उस कार्य की मलिनता (अशुद्धि) आदि की सिद्धि कैसे होगी, अर्थात्—'मैं अज्ञानी हूँ व मेरा अन्तःकरण मलिन है'—ऐसा अनुभव किसने किया ?

यदि दुर्जनतोष न्याय से मान भी लिया जाय, तो जिस

आत्मा के अज्ञान द्वारा अन्तःकरण एवं उसकी मलिनता की भ्रांति (प्रतीति) हो रही है, उस आत्मा के ज्ञान से ही अन्तःकरण की शुद्धि एवं आत्मज्ञान की प्राप्ति (साक्षात्कार) हो सकती है। जैसे कीचड़ के द्वारा कीचड़ की सफाई नहीं हो सकती, निर्मल (शुद्ध) जल से ही उसकी शुद्धि हो सकती है,—इसी प्रकार अन्तःकरण एवं उसकी मलिनता भी अविद्या (अज्ञान) का ही कार्य है तथा ज्ञान के अतिरिक्त अन्य साधन भी, शारीरिक व मानसिक क्रिया होने से, अन्तःकरण के ही कार्य हुए। तब इन कार्यों के द्वारा उस कारण (अन्तःकरण) की शुद्धि कैसे हो सकती है ? बिना कारण (अज्ञान) के निवृत्त हुए उसके कार्य की निवृत्ति कैसे हो सकती है ? अतः विशुद्ध आत्मज्ञान के द्वारा ही अज्ञान एवं उसके कार्य मलिनतादि की निवृत्ति हो सकती है। कोयले की कालिमा केवल अग्नि से ही दूर हो सकती है, साबुन, सोडा, जल आदि से नहीं।

किसी व्यक्ति के घर के द्वार पर बोर्ड लगा है कि 'बिना आज्ञा अन्दर आना निषेध है।' कोई बाहर का दूसरा मनुष्य आयेगा तो उसे मकान-मालिक से आज्ञा लेनी पड़ेगी, किन्तु स्वयं गृह-स्वामी तो उस बोर्ड को देखता तक नहीं, सीधा अन्दर चला जाता है। इसी प्रकार ईश्वर तथा आत्मा 'अपना आपा' होने से आत्मज्ञान में सभी को स्वाभाविक ही अधिकार है। अतः तेली के बैल की भांति चक्कर लगाने के बजाय सभी को परम प्रकाशमय, परम पावन सर्वोत्कृष्ट 'ज्ञानदेव' का ही सर्वप्रथम आश्रय लेना चाहिए।

卐 श्रीगुरुपरमात्मनेनमः 卐

* मङ्गलमय आनन्दमय 卐 सर्वेभवन्तुसुखिनः *

ज्ञान ही सर्व का स्व+रूप=आत्मा अर्थात् ईश्वर है

तरतिशोकमात्मवित् न कर्मणा न प्रजया,
न धनेन त्यागेनैकेनऽमृतत्त्वमानुशुः ॥

मङ्गलमय आनन्दमय सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म परमेश्वर सर्वात्मा को नमस्कार हो, असंख्य बार नमस्कार हो। आप ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, प्रकृति आदि ईश्वरी शक्तियों के, सूर्य, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण आदि दैवी शक्तियों के, व्यास, वशिष्ठ, समस्त ऋषि-मुनि अवतार आदि मानवी शक्तियों के एवं समस्त प्राणी-मात्र के आत्मा, ज्ञान, आनन्द व अस्तित्त्व हैं। आपके किसी एक अंशमात्र में सङ्कल्प (इच्छाशक्ति) है, जिसे माया भी कह सकते हैं। किन्तु वह अग्नि में दाहकता व वायु में स्पंदन (क्रिया) वत् आपका स्वरूप ही है। उस सङ्कल्प के किसी एक अंशमात्र में असंख्य सूर्य, उनके आकर्षण एवं प्रकाश में असंख्य ब्रह्मांड (विश्व) हैं। प्रत्येक ब्रह्मांड में असंख्य व अनन्त सृष्टि इसी प्रकार से स्थित है, जैसे किसी के शरीर में रोम।

आपकी विद्या, बुद्धि, ज्ञान, विज्ञान, ऐश्वर्य, विभूति, शक्ति, आनन्द, आह्लाद, प्रेम, शान्ति एवं महिमा आदि अपार, अनन्त, असीम हैं। आप ही ईश्वर, देवता, मानव आदि शक्तियों एवं समस्त शरीरधारी प्राणियों के इष्टदेव, उपास्यदेव, आराध्यदेव,

कल्याणदेव, आनन्ददेव, चेतनदेव, ज्ञानदेव, प्राणदेव, आत्मदेव हैं।

आप ही सबके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण या अधिष्ठान हैं। आपकी सत्ता से ही सबकी सत्ता है। आप ही द्रष्टा-दर्शन-दृष्य, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय, कर्त्ता-कर्म-क्रिया, उपासना-उपास्य-उपासक, जीव-ईश्वर-प्रकृति, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, स्थूल-सूक्ष्म-कारण, विश्व-तैजस-प्राज्ञ, विराट्-हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा आदि त्रिपुटियाँ हैं एवं ज्ञान-अज्ञान, बंध-मोक्ष, शान्ति-अशान्ति, जन्म-मृत्यु, रात्रि-दिन, निराकार-साकार, कारण-कार्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द रूप हैं और इन त्रिपुटियों व द्वन्द्वों से अतीत भी हैं।

इसलिए इस सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त शक्तियों एवं प्राणियों से ज्ञान व क्रियाशक्ति के द्वारा जो भी चेष्टा हो रही है, वह सब आपकी ही महिमा का चमत्कार है। आप ही सबके माता-पिता, बन्धु-बान्धव, मित्र, गुरु, धन, ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, विज्ञान, मान, प्रतिष्ठा हैं।

अतः लेखक, लेखनी एवं प्रतिपाद्य विषय आदि सब आप ही हैं। आपकी ही प्रेरणा से सब कुछ हो रहा है, तो फिर सफलता-असफलता, हानि-लाभ आदि का सारा उत्तरदायित्व आप पर ही है, क्योंकि कर्ता-भोक्ता-भोग्य स्वप्नवत् आप स्वयं ही हैं।

बोलो मंगलमय, आनन्दमय, शान्तिमय चैतन्यदेव की जय!

अद्वैत-दर्शन

●

❋ अद्वैत मीमाँसा ❋

॥ एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ॥

जितने भी भारतीय शास्त्र हैं उन समस्त दर्शनों में से वेदान्त दर्शन ही सर्वोपरि है। वेदान्त दर्शन के लेखक या आचार्य यद्यपि महर्षि व्यास जी हैं, तथापि वेदान्त सिद्धान्त के नहीं। वेदान्त वेदों एवं शास्त्रों का एक अन्तिम (ज्ञान) सिद्धान्त है, जिसका लक्ष्यार्थ पूर्ण ब्रह्म है। वेदान्त चिरन्तन सिद्धान्त है। व्यास जी के प्रथम भी गुरु-शिष्यों की परम्परा के द्वारा मुमुक्षुओं को उपदेश दिया जाता था।

वेदान्त एक अटल एवं सत्य सिद्धांत है। व्यास जी का अद्वैत, शंकराचार्य जी का केवलाद्वैत, रामानुजाचार्य जी का विशिष्टाद्वैत, वल्लभाचार्य जी का शुद्धाद्वैत आदि आचार्यों के मत हैं, न कि सिद्धान्त, अर्थात् ये सब वेदान्त सिद्धान्त को समझाने की प्रक्रियायें हैं। यदि शंकर का "केवल", रामानुज का "विशिष्ट", वल्लभ का "शुद्ध" निकाल दिया जाय, तो व्यास का अद्वैत ही शेष रहेगा जो कि वेदान्त का सिद्धान्त है।

इसी प्रकार अजातवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद, विवर्तवाद, अध्यास-वाद, आभासवाद, आरम्भवाद, परिणामवाद, बिम्ब-प्रतिबिम्ब-वाद आदि जितने भी आचार्यों के वाद (मत) हैं, ये सारी प्रक्रियायें हैं, न कि सिद्धान्त। अर्थात् सिद्धान्त (सत्) को समझाने के लिये जो विभिन्न परिभाषायें हैं—उन्हीं को प्रक्रिया कहते हैं। अतः वेदान्त का लक्ष्य एक सत्तावाद में है, न कि द्वैत में। अब यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि वेदान्त का सिद्धान्त ही सत्य है तो फिर द्वैत की प्रतीति क्यों और किसको हो रही है ?

उत्तरः—द्वैत की प्रतीति वृत्ति के द्वारा चेतन को हो रही है। चेतन ज्ञानस्वरूप, ज्ञान वृत्ति स्वरूप और वृत्ति ही दृश्यमान जगत रूप है। अर्थात् जगत वृत्तिरूप, वृत्ति ज्ञानरूप, ज्ञान चेतन स्वरूप है। तात्पर्य है कि किसी भी दृश्यमान पदार्थ (जगत) में से चैतन्य को निकाल दीजिये तो वस्तु की सत्ता ही समाप्त हो जायगी, जिस प्रकार नाना प्रकार के वस्त्रों में से रुई, नाना प्रकार के भूषणों में से स्वर्ण एवं नाना प्रकार के पात्रों में से मृत्तिका को निकाल देने से वस्त्रों, भूषणों एवं बर्तनों की सत्ता नहीं रहती। क्योंकि चैतन्यदेव ही समस्त नामरूपात्मक स्थूल, सूक्ष्म, कारण जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, स्वप्न-सृष्टिवत्। इस-लिये—"तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः"—जिसने सर्वत्र एकता का अनुभव कर लिया है, फिर उसको शोक और मोह क्योंकर हो सकता है ?

ग्रन्थ आरम्भ करने के प्रथम "अद्वैत-दर्शन" के सम्बन्ध में

कुछ कहना अत्यावश्यक है। अतः प्रस्तुत विषय में कुछ कहना असंवद्ध न होगा।

हमारा समस्त वैदिक वाङ्मय एकात्मवाद का प्रतीक है, जिसको एक ब्रह्मवाद भी कह सकते हैं। उसी का दूसरा नाम "अद्वैत-दर्शन" भी है।

अद्वैत-वाद वेदान्त का वह सिद्धान्त है, जिसमें आत्मा और परमात्मा को एक सिद्ध किया जाता है और ब्रह्म से अतिरिक्त सब वस्तुओं या तत्त्वों की सत्ता अवास्तविक या कल्पित मानी जाती है।

वेदान्त के ग्रन्थों में "अद्वैत-दर्शन" शब्द का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया गया है--"द्विधा इतं द्वीतं, तदेव द्वैतं—अहन्तेदन्तादिसंवित्समन्वितं ज्ञानं द्वैतं; तद्भिन्नं ज्ञानं—"अद्वैतम्"।

"दर्शनं"—"दृश्यते अनेन वस्तु तत्त्वं—इति दर्शनम्"—जिससे वस्तु तत्त्व अर्थात् आत्मा (ब्रह्म) के साक्षात्कार का ज्ञान हो, उसका नाम "दर्शन" है।

अद्वैत-विचार

सबसे प्रथम अद्वैत पद का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

"अद्वैत-दर्शन" में प्रथम पद अद्वैत है। इसका अर्थ है—एक ब्रह्म या आत्मा। अकार पद निषेधवाचक है। प्राकृत व्याकरण का सूत्र है—"अ, मा, नो, न"—ये चार शब्द निषेधवाचक हैं। अद्वैत शब्द में "अ" निषेध का द्योतक है। अर्थात् अद्वैत का अभिप्राय

"इदन्ता" से उपलक्षित है—समस्त संसार की ब्रह्म से अतिरिक्त कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

"द्वैत" से दो वस्तुओं का ग्रहण होता है—एक ब्रह्म और दूसरा जगत्। जगत् और ब्रह्म दो होने से द्वैत कहते हैं परन्तु "अद्वैत-दर्शन" में एकात्मवाद का उल्लेख होने से जिस प्रकार से कोई इतने विशाल सूर्य को एक थाली जैसा गोल लघुरूप में प्रत्यक्ष अनुभव करता है, यही है विशालता में लघुता की प्रतीति। इसी प्रकार से पूर्ण अद्वैत, विशुद्ध, चिन्मात्र ब्रह्म में जीवत्व की भ्रान्ति होती है।

कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं हो सकती। ब्रह्मरूप अधिष्ठान में मिथ्या कल्पित जगत् स्वर्ण में भूषण के समान अध्यस्त है। अतः एक ब्रह्मतत्त्व ही सत्य है और उसके अतिरिक्त समस्त जगत् मिथ्या है। इस बात को दृष्टान्त से आगे बताया जाएगा। अतः इस "अद्वैत-दर्शन" नामक ग्रन्थ में एक वास्तविक ब्रह्म सत्ता का ही निरूपण किया जाएगा। इसलिए "यथा नाम तथा गुणः", इस लोकोक्ति के अनुसार नाम के अनुरूप अर्थ होने से "अद्वैत-दर्शन" नामक ग्रन्थ की सार्थकता निष्पन्न हो जाती है।

उपरोक्त विषय को ही प्रकारान्तर से विचार किया जाता है—

अ+द्वैत=अद्वैत अर्थात् द्वैत से रहित, केवल एक चैतन्य सत्ता, उस चैतन्य को "अहं" या आत्मरूप से अनुभव करना अथवा नाना प्रकार के नाम-रूपात्मक जगत् के नानात्व में एकत्व का

अनुभव करना अथवा समस्त जगत् में "बर्फ में जलवत्" एक चेतन को ही पूर्ण या सर्वत्र ओत-प्रोत देखना ही "अद्वैत-दर्शन" है।

एक सत्तावाद

एकत्व एक ऐसा प्राकृतिक अटल नियम है कि जिसके बिना जगत् की स्थिति ही नहीं रह सकती। अर्थात् पुरुष-प्रकृति (जड़-चैतन्य) के संयोग से ही तीन गुणों सहित सूक्ष्म पंच तत्त्व—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आदि स्थूल पंच तत्त्वों की उत्पत्ति होती है और इन्हीं तत्त्वों के संयोग से ही जगत् की स्थिति है।

१+सत्ता=एक सत्ता अर्थात् केवल एक की ही सत्ता और वही सत्ता "सत्" "चित्" "आनन्द" स्वरूप है। अथवा वही एक चित्सत्ता ही जगत् के रूप में व्याप्त मूल तत्व एवं सर्वरूप है, जिस प्रकार से संसार भर की सारी भाषाओं में जितनी भी संख्याएँ हैं, वे सब "१" से प्रारम्भ होकर पुनः "एक" में ही समाप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार से एक चेतन सत्ता से ही सारे विश्व का प्रादुर्भाव होकर फिर उसी में विलीन होता रहता है। अभिप्राय यह है कि—१-२-३-४-५-६-७-८-९-१० संख्याओं में से "२" से लेकर "९" तक अथवा "१" व "१०" के मध्य की संख्याएँ उसी एक में ही गर्भित हैं और अन्तिम संख्या "१०" भी तो केवल एक ही है। शून्य का तो अपना कोई अस्तित्व ही नहीं। तात्पर्य यह है—"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा" अर्थात् जो वस्तु

आदि-अन्त में न हो और केवल वर्त्तमान में ही प्रतीत हो उसकी कोई भी सत्ता नहीं है ।

इसी सिद्धान्त के अनुसार "१" और "९" के मध्य की भी सारी संख्याएँ एक के ही परिणाम स्वरूप हैं । जैसे--१+१=२, १+१+१=३, १+१+१+१=४, १+१+१+१+१=५ इत्यादि, "२" से लेकर "९" तक की संख्याओं के अन्तर्गत सारे संसार का समावेश हो जाता है । यथा—"एक" से तात्पर्य पूर्ण ब्रह्म । "दो" से तात्पर्य पुरुष-प्रकृति (जड़-चेतन) आदि मूल तत्व एवं रात्रि-दिन, जन्म-मृत्यु, कार्य-कारण, स्थूल-सूक्ष्म, समष्टि-व्यष्टि इत्यादि नाना प्रकार के द्वन्द्व ।

"तीन" से तात्पर्य—तीन गुण-सत्-रज-तम, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति आदि तीन अवस्थाएँ । स्थूल-सूक्ष्म-कारण आदि तीन शरीर । ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय, कर्त्ता-कर्म-क्रिया इत्यादि नाना प्रकार की त्रिपुटियाँ ।

"चार" से तात्पर्य—मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार आदि चार अन्तःकरण । जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति एवं तुरीय आदि चार अवस्थाएँ । जेरज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज आदि चार प्रकार की सृष्टि । आत्मज्ञान-जगत्‌ज्ञान-व्यवहार (कर्म या नाना प्रकार का साधन) ज्ञान-प्रकृतिज्ञान इत्यादि चार प्रकार के वेदन अर्थात् ज्ञान हैं ।

"पांच" से तात्पर्य आकाश आदि पांच तत्त्व । शब्द स्पर्श आदि पांच विषय । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ । पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण आदि हैं ।

"छः" से तात्पर्य––वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद्-शिशिर-हेमन्त ये षड् ऋतु। कटु-तिक्त-कषाय-अम्ल-लवण-मधुर षड्रस एवं मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपुर-अनाहद-विशुद्ध-आज्ञा ये षड् चक्र।

"सात" से––सप्तद्वीप, सप्तधातु, सप्तरंग, सात दिन, सात भूमिका।

"आठ" से—आठ प्रकार की प्रकृति, आठ प्रकार के वसु, आठ प्रहर, आठ सिद्धियाँ।

"नव" से––नवग्रह, नव निद्धियाँ, नव प्रकार की दुर्गा आदि। नव दुर्गा से अभिप्राय नव प्रकार की शक्तिओं से है, जो कि प्रत्येक दुःख से मुक्त करती हैं अर्थात् इन्हीं शक्तियों के द्वारा सारे विश्व का नियन्त्रण या शासन होता है। नव प्रकार की शक्तियाँ–ज्ञान, क्रिया, उत्पादक, विनाशक, पोषक, शोषक, दाहक, छेदक, प्रकाशक––इन्हीं शक्तियों के द्वारा ही समस्त विश्व के प्राणीमात्र के दुःखों या दुर्गतिओं की प्राप्ति या निवृत्ति होती है।

इसका तात्पर्य यह है कि "दो" से "नव" तक की संख्या के अन्तर्गत ही सारी सृष्टि का समावेश हो जाता है और "दो" से "नव" तक की संख्या "एक" में ही समा जाती है। इसी प्रकार से एक चेतन सत्ता में ही "दो" से लेकर "नव" तक की सारी सृष्टि गर्भित है अथवा वही रूप है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सारे चराचर जगत् की एकता स्वाभाविक या प्राकृतिक ही है। क्योंकि सारे नाम-रूपात्मक ज़गत् का मूलतत्व या कारण एक चेतन सत्ता ही है। इसी सिद्धांत

के अनुसार ही सारे विश्व की एकता दिखलाई जाती है—अतः इसी जगत् के ही अन्तर्गत जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त कोई भी राष्ट्र, समाज, पार्टी, संस्था, सम्प्रदाय, धर्म, कर्म, मोक्ष व नाना प्रकार के सुख और उनके साधन स्थित ही नहीं रह सकते, यहां तक कि हमारे जीवन का क्षणमात्र भी बिना एकता के खाली नहीं है। लीजिए, प्राणीमात्र का जन्म ही एकता से प्रारम्भ होता है। माता-पिता के संयोग द्वारा रज-वीर्य के एक होने से रक्त, मांस, मज्जा, नाड़ी, अस्थि, वीर्य, मेद इत्यादि सप्त धातु एवं नेत्र, श्रवण, नासिका, त्वचा, रसना इत्यादि पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, पायु इत्यादि पांच कर्मेन्द्रियां और मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार इत्यादि अन्तःकरण चतुष्टय, प्राण व चेतन और आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथिवी इत्यादि पंच तत्त्व–इन सबका जब संयोग होता है तब सबका जन्म अर्थात् सबके शरीरों की उत्पत्ति होती है। हम लोगों का पालन-पोषण जिन खाद्य पदार्थों से होता है, वे भी सब एकता के ही परिणाम हैं।

प्रथम बालक के पीने के लिये जो दूध बनता है वह भी नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ, जल व माता का शरीर और उसकी पाचन शक्ति व अन्य प्रकार के साधन-स्थान इत्यादि का जब संयोग होता है तभी दूध बनता है, तथा नाना प्रकार के अन्न, फल, शाक इत्यादि के बीज पृथिवी, जल, खाद, हल, बैल, गर्मी, मनुष्य इत्यादि का जब संयोग होता है, तब नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। आटा, दाल, चावल, सब्जी, नमक, मसाला, मीठा,

दूध, घृत, लकड़ी, अग्नि, पानी, बर्तन, चूल्हा, बनाने वाला—इन सब वस्तुओं का जब संयोग होता है तब नाना प्रकार के भोजन खाने के लिये तय्यार होते हैं। और रुई, ऊन, रेशम, सिल्क, कई प्रकार के रंग, नाना प्रकार के लोहे व लकड़ी के यन्त्र, अग्नि, पानी, बनाने वाले, सीने वाले इत्यादिकों का जब सयोग होता है, तब हमारे लोगों के पहिनने के लिए नाना प्रकार के वस्त्र बनते हैं। इसी प्रकार से लोहा, लकड़ी, चूना, ईंट, पत्थर, सिमेन्ट, बजरी, रेता, मिट्टी, रंग, राज, बढ़ई, लोहार, इञ्जीनियर, मज़दूर, अग्नि, पानी, पृथिवी, बनाने वाले इत्यादि जब सब एकत्रित होते हैं, तब हम लोगों के निवास के लिए नाना प्रकार के भवन निर्माण किए जाते हैं।

इसी प्रकार से काग़ज़, स्याही, रंग, धागा, कपड़ा, गत्ता, छपाई के यंत्र, नाना प्रकार की विद्याएँ और उनके ज्ञाता व लेखक, छापने वाले आदि साधन जब एकत्रित होते हैं तब नाना प्रकार की ज्ञान की पुस्तकें बनाई जाती हैं। बहुत-से मनुष्य, नाना प्रकार के शस्त्र, बाजे, बहुत-सी अन्य आवश्यक सामग्री का जब एकत्रीकरण होता है तब प्रत्येक राष्ट्र की रक्षा के लिए सेना तैयार होती है। इसी प्रकार से बहुत-से मनुष्यों के समूह को समाज, पार्टी, संस्था, सम्प्रदाय इत्यादि कहा जाता है। बहुत-से घरों के समूह को 'ग्राम' और ग्रामों के समूह को 'तहसील' और तहसीलों के समूह को 'जिला' और जिलों के समूह को 'कमिश्नरी' और बहुत-सी कमिश्नरियों को 'प्रान्त' और बहुत-से प्रान्तों को 'राष्ट्र' और

कई राष्ट्रों के समूह को 'महाद्वीप' और सारे महाद्वीपों को 'विश्व' या 'ब्रह्मांड' कहा जाता है और समस्त ब्रह्मांडों की एकता को 'पूर्णब्रह्म' या परमेश्वर, गॉड, खुदा इत्यादि नामों से कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार से वृक्षों के समूह को जंगल-बाग तथा बहुत-से घरों के समूह को नगर-शहर कहते हैं, किन्तु जैसे वृक्षों व घरों से अतिरिक्त जंगल व नगर का कोई अस्तित्व नहीं है, इसी प्रकार से पूर्णब्रह्म, परमात्मा का अस्तित्व इन सारे ब्रह्मांडों से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं और इन्हीं सारे ब्रह्मांडों के अन्तर्गत यह सारा विश्व भी है जिसमें हम लोग निवास कर रहे हैं। जिस प्रकार से हम लोगों का शरीर बहुत-सी वस्तुओं के संगठन का एक परिणाम है अर्थात् बहुत-से नामों का एक नाम एवं बहुत-से रूपों का एक रूप स्थूल, नाम, रूप से एक शरीर बना; किन्तु इन विभिन्न नामों और रूपों से अतिरिक्त इस शरीर की कोई भी सत्ता नहीं है। इसी प्रकार से समस्त संसार के नामों व रूपों को मिलाकर एक नाम-रूप के अन्तर्गत विराट् रूप परमात्मा कहा जाता है। इसलिए इस जगत् के किसी भी नाम-रूप से अतिरिक्त "ईश्वर" की कोई भी सत्ता नहीं है। अर्थात् कोई भी कार्य कारण से कभी भिन्न हो नहीं सकता, जैसे—एंजिन लोहे से कभी पृथक् नहीं होता, अपितु लोहा ही रहता है।

इसी प्रकार से किसी भी नाम-रूप से परमात्मा भिन्न नहीं हो सकता, यदि भिन्न माना जाएगा तो वन्ध्या-पुत्र से अधिक उसका कोई भी महत्त्व न होगा। अर्थात् ईश्वर, परमात्मा; ब्रह्म, गॉड,

खुदा भी तो एक नाम ही है और उसका कोई-न-कोई माना हुआ स्वरूप भी तो रूप के ही अन्तर्गत है। इसी प्रकार से रेल, तार; टेलीफोन, वायरलैस, जहाज़, वायुयान, रेडियो, सिनेमा एवं नाना प्रकार के एंञ्जिन व यन्त्र आदि भी बहुत-सी वस्तुओं के एकीकरण होने से ही ये सब वस्तुएँ निर्माण होती हैं और कहाँ तक गिनाएँ?

हमारी जीवनयात्रा के निर्वाह व सुख-साधन की जो-जो भी सामग्री फलस्वरूप देखने में अथवा अनुभव में आ रही हैं, वे सारी-की-सारी बहुत-सी वस्तुओं की 'एकता' (संयोग) का ही परिणामस्वरूप हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारे सुख के जितने भी साधन हैं, वे सब एकता का ही परिणाम हैं—परन्तु कैसी एकता सुख का साधन हो सकती है? युक्ति और विचार-पूर्वक एकता ही सुख का साधन हो सकती है। अन्यथा अज्ञान-पूर्वक एकता तो दुःख का ही कारण होगी, जैसे—किसी बड़े पात्र में आटा, दाल, चावल, शाक, घी, दूध, नमक, मसाला, लकड़ी, अग्नि, पानी इत्यादि मिलाकर रख दिये जाएँ तो क्या भोजन तैयार हो जाएगा? नहीं, कदापि नहीं। सारी सामग्री व्यर्थ हो जाएगी। इसलिए ज्ञानपूर्वक एकता ही सुख का साधन है।

ज्ञानपूर्वक एकता दो प्रकार की होती है। एक 'क्षणिक' दूसरी 'स्थायी'। जिस प्रकार से आनन्द दो प्रकार का होता है—एक 'नित्य' दूसरा 'अनित्य'। अतः क्षणिक 'एकता' (संयोग) से अनित्य आनन्द और स्थायी 'एकता' (संयोग) से नित्य

आनन्द प्राप्त होता है। इसलिए स्वाभाविक व स्थायी एकता के द्वारा नित्य आनन्द प्राप्त करना यानी अनुभव करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है। अस्तु !

किस प्रकार से स्थायी एकता व नित्य आनन्द का हम लोग आस्वादन कर सकते हैं ? थोड़े शब्दों में तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि अपने व्यक्तिगत प्रत्येक 'स्वार्थ' व 'अहंता' 'ममता' आदि सारी परिच्छिन्नता को पूर्णता के रूप में बदल दें। अर्थात् व्यष्टिभावों को समष्टि विश्व के साथ जोड़ दें यानी संबंधित कर दें। सारांश यह है कि जीवत्व को ब्रह्मत्व के रूप में बदल दें। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस कृत्रिम एकता को व क्षणिक आनन्द को हम त्याग दें और त्यागना सम्भव भी नहीं, जब तक यह शरीर विद्यमान है। इसलिए यह कृत्रिम एकता व अनित्य आनन्द क्षणिक व अनित्य तभी तक है जब तक हम लोग इन वस्तुओं को केवल अपने व्यक्तिगत उपभोग का साधन बनाते अथवा मानते हैं। यदि ये ही सारी सुख-सामग्री समस्त संसार के मनुष्यमात्र या प्राणीमात्र के सुख व शान्ति के लिए ऋषिओं एवं पाश्चात्य वैज्ञानिकों की भांति, नाना प्रकार के उपयोगी शास्त्रों एवं वस्तुओं का निर्माण करें तो यही एकता व सुख नित्य वा स्थायी हो जाएगा, क्योंकि बनाने वालों के देहान्त हो जाने के पश्चात् भी उसके स्वरूपभूत करोड़ों व्यक्ति उसी वस्तु के उपभोग से लाभ वा आनन्द सदा उठाते ही रहते हैं। जिस प्रकार वायु-यान का आविष्कार करने वाला महानुभाव मृत्यु को तो अवश्य

प्राप्त हो गया, परन्तु जब तक यह विश्व रहेगा तब तक के लिये उस वैज्ञानिक की 'एकता' व 'आनन्द' समष्टि भोक्ता के रूप में अमर हो गया। जिस प्रकार से कोई व्यक्ति आमों का बाग लगाता है तो क्या वह यह सोचता है कि मैं तो थोड़े ही दिनों का मेहमान हूँ, इसका फल कौन खाएगा ? नहीं-नहीं,--वह तो यही विचार कर लगाता है कि औरों ने भी लगाया था। उसका फल मैंने खाया। अब मैं लगा रहा हूँ तो इसके फलों को मैं ही अन्य लाखों शरीरों के द्वारा उपभोग करता ही रहूँगा। इस निश्चय (अनुभव) का नाम ही तो ब्रह्मज्ञान या आत्म परायणता है, जिसके लिए वेद व शास्त्र पुकार-पुकार कर कह रहे हैं। परन्तु हम लोग तो इन बातों को केवल कहने व सुनने में ही समाप्त कर देते हैं अर्थात् अपने व्यक्तिगत परिच्छिन्न देहाभिमान को समष्टि शरीरों के साथ मिलाकर एक कर देना ही स्थायी एकता' है, जिसका फल नित्य सुख है। क्योंकि आत्मा तो बिना किसी साधन के ही अनादि काल से सदा सारे शरीरों का एक है ही, सारे बल्बों में करेन्ट या प्रकाश के समान। तो फिर इस बात की चिन्ता ही नहीं होनी चाहिये कि "मैं जब मर जाऊँगा, तब इन वस्तुओं का उपभोग कौन करेगा ?" जबकि सबका चेतन ज्ञान स्वरूप आत्मा, अजर, अमर, नित्य और सारे शरीरों में एक ही है, तो फिर असंख्य ब्रह्माण्डों में सारे शरीरों के द्वारा एक ही काल में सब आनन्दों का 'भोक्ता' हुआ। इसी प्रकार से सर्व का कर्त्ता भी एक ही हुआ। अतः वैदिक एवं दार्शनिक ऋषिओं

ने इस आत्मा को 'महाकर्त्ता' 'महाभोक्ता' कहा है।

कहने का सारांश यह है कि यही कृत्रिम एकता व उसका फल 'अनित्य सुख' सारे का सारा 'अकृत्रिम' व 'नित्य' है— क्योंकि जब सबका 'कारण' सत्य है तब अवश्यमेव उसका 'कार्य' जगत् भी सत्य होना चाहिए। क्योंकि कारण का जो 'स्वरूप' तथा 'गुण' हुआ करता है, वही स्वरूप व गुण उसके कार्य में अवश्यमेव ओत-प्रोत या विद्यमान रहा करता है। जिस प्रकार से चीनी से जो मिठाई बनती है, उस मिठाई में जो माधुर्य है वही चीनी है। इसी प्रकार से जितना भी नाम-रूपात्मक चराचर जगत् है, इसमें जिस वस्तु का भाव (अस्तित्व) है वही तो 'सत्' है और जो वस्तु की 'प्रतीति होना' (भान होना) है, वही सबका चेतन (ज्ञानरूप आत्मा) 'चित्' है और समस्त संसार के प्रत्येक पदार्थ में जो एक दूसरे को अनुकूलता (सुख) की अनुभूति है वही तो 'आनन्द' है।

अब यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि जब प्रत्येक पदार्थ में 'आनन्द-स्वरूप आत्मा' व्याप्त है तो फिर इस शरीर में अथवा अन्य पदार्थों में दुःख की अनुभूति क्यों होती है ?

इसका उत्तर केवल इतना ही हो सकता है कि परिच्छिन्न अन्तःकरण के द्वारा हम लोग व्यापक आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते। जिस प्रकार से एक साधारण थर्मामीटर द्वारा एक काल में केवल एक शरीर की ही अधिक-से-अधिक एक सौ छः, सात या आठ डिग्री की ऊष्णता (हीट) की परीक्षा कर सकते हैं।

पिघले लोहे की ऊष्णता की परीक्षा करने के लिए किसी बड़े पावर के थर्मामीटर की आवश्यकता पड़ेगी। परन्तु सारी ऊष्णताओं के कारण स्वरूप 'सूर्य' की समस्त ऊष्णता को किसी भी थर्मामीटर से मापना सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार एक साधारण व्यक्ति अपने अन्तःकरण के द्वारा एक काल में एक ही शरीर में 'सुख' का अनुभव कर सकता है। परन्तु इससे अधिक समाहित, अपने परिच्छिन्न अहन्ता-ममता-स्वार्थ से रहित अन्तःकरण के द्वारा योगी एक काल में अनेकों शरीरों में आनन्द का अनुभव कर सकता है। परन्तु फिर भी किसी भी प्रकार से अन्तःकरण के द्वारा "पूर्ण आनन्द" का अनुभव कदापि नहीं कर सकता, जब तक परिच्छिन्न उपाधि से रहित होकर 'पूर्ण' में पूर्ण रूप न हो जाए। पूर्णता की अवस्था में कहना-सुनना कुछ भी नहीं रहता। इसी बात को अब प्रकारान्तर से कहते हैं—यदि प्रत्येक परिस्थिति में, प्रत्येक वस्तु में 'आनन्द' का अनुभव करना हो तो एक व्यक्तिगत अन्तःकरण के द्वारा नहीं, किन्तु मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटाणु, इत्यादि सभी के दृष्टिकोण से 'सुख' या 'दुख' को देखिए। तब ज्ञात होगा कि जिस परिस्थिति में या वस्तु में हम लोग 'दुःख' देख रहे हैं वही देश, काल या वस्तु दूसरे किसी प्राणी के लिए 'सुखप्रद' है और वही सुख किसी अन्य प्राणी के लिए दुःखरूप है। जिस प्रकार एक गन्दी नाली में या विष्ठा में रेंगते हुए कृमियों पर किसी कर्मवादी, धर्मात्मा मनुष्य की दृष्टि पड़ी। देखते ही उस दयालु मनुष्य को बड़ी दया आई और वह

कहने लगा कि देखो, इन बेचारों ने पूर्वजन्म में बहुत ही घोर पाप किए थे, तभी तो ऐसे घोर 'रौरव नरक' महान् दुःख का अनुभव कर रहे हैं। इसलिए इन महान् दुःखी जीवों को इस नरक से निकालकर स्वर्ग में पहुँचा देना चाहिये। ऐसा कहते हुए उस कृपालु मनुष्य ने उन कृमियों को उठाकर एक ऐसे मखमली पलंग पर रख दिया जो नाना प्रकार के पुष्पों तथा सुगन्धित द्रव्यों से सजा हुआ था और जिस पर बहुत से सुन्दर और मधुर फल, मेवे मिष्टान्न रक्खे थे। रखते ही वे कृमि कष्ट के मारे तड़पने लगे तथा सैकड़ों गालियाँ उस पुरुष को देते हुए कहने लगे कि—"अरे नीच! नारकीय! तेरा सत्यानाश हो! तूने हमें महान् आनन्द से छुड़ाकर घोर नरक में डाल दिया है।"

अब आप लोग स्वयं विचार करेंगे तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि एक ही परिस्थिति या वस्तु एक के लिए 'स्वर्ग' है तथा दूसरे के लिए 'नरक' है। अर्थात् मनुष्य का जो नरक है, वही दूसरे प्राणी के लिए 'स्वर्ग' है। इसी के विपरीत-अन्य प्राणियों का जो 'स्वर्ग' है, वही मनुष्यों के लिए घोर 'नरक' है। तात्पर्य यह निकला कि दोनों का नरक सच्चा तथा दोनों का स्वर्ग भी सच्चा, क्योंकि दोनों का अनुभव अपनी-अपनी परिस्थिति व स्वभाव के अनुसार ठीक है। केवल उपाधि का अन्तर है, जिस प्रकार से प्रकाश के ऊपर लाल रंग का शीशा (चिमनी) लगा देने से प्रकाश भी 'लाल' दृष्टि में आने लगेगा। हरे रंग का शीशा लगा देने से वही प्रकाश हरा दिखाई देगा। परन्तु प्रकाश

का रंग न लाल है, न हरा। वह तो ज्यों-का-त्यों है। इसी प्रकार से आनन्द रूप आत्मा सर्वत्र, सर्व में एक जैसा है, परन्तु हम लोग 'सुख-दु:ख रूपी' रंगीन शीशे अर्थात् भावनायुक्त अन्तः-करण रूपी चिमनी, प्रकाशरूप आत्मा के समक्ष लगा देते हैं, इसी कारण से विभिन्न वस्तुओं में, विभिन्न प्राणियों के द्वारा, विभिन्न प्रकार के सुख-दु:खों का अनुभव होता है। इसलिए यदि उस गन्दी नाली या विष्ठा में स्वर्ग का निरीक्षण मनुष्य करना चाहता है, तब उन कृमियों के दृष्टिकोण से काम लेना होगा न कि अपने से। इसी विषय पर एक और दृष्टान्त पढ़िये--

एक बार बादशाह ने प्रेमी मजनू को अपने पास बुलाकर कहा—'ऐ मजनू! तू बड़ा ही मूर्ख है जो इतनी कुरूपा, काली-कलूटी इस लैली के लिये इतना मर रहा है। देख, इतनी सुन्दर-से-सुन्दर लड़कियाँ तेरे सामने खड़ी हैं। इनमें से जिसे तू चाहे चुन ले। उसी के साथ तेरा विवाह कर दिया जाएगा।' तब मजनू ने कहा—'ऐ बादशाह सलामत! यदि लैली की सुन्दरता को देखना चाहता है, तो मेरी आँखों से देख कि वह कुरूपा है या सुरूपा?'

इसी प्रकार से दु:ख की किसी भी परिस्थिति को यदि सुख के रूप में बदलना चाहते हैं, तो स्वार्थमयी एक देशी भावना को सर्वहितमयी, व्यापक भावना के रूप में बदल देना होगा। अथवा, क्या आप लोगों ने कभी यह अनुभव नहीं किया कि किसी नगर के बाहर, जहाँ पर सारे नगर का कूड़ा, कर्कट, गन्दगी, मरे

कुत्ते तथा अन्य मरे पशु फेंके जाते हैं, वहाँ से यदि किसी मनुष्य को रास्ता पार करना हो तो नाक पर वस्त्र रखकर बहुत ही कष्ट-पूर्वक निकलता है। एक मिनिट भी वहाँ ठहर नहीं सकता। परन्तु उसी स्थान पर चील, कौए, गिद्ध, कुत्ते या गीदड़ नित्य ही होली मनाते रहते हैं, प्रसन्नता के मारे फूले नहीं समाते। तब क्या उस देश-काल में या उन प्राणियों में 'सत्, चित्, आनन्द-स्वरूप व्यापक परमात्मा विराजमान नहीं है? यदि कहो—है—तो, फिर वहाँ नरक कैसा? क्या एक ही देश और काल में दो विरोधी वस्तुएँ कभी रह सकती हैं? कदापि नहीं, जिस प्रकार से एक ही देश-काल में अन्धकार तथा प्रकाश युगपत नहीं रह सकते—तो फिर स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, कर्त्ता-भोक्ता आदि उस 'सच्चिदानन्द' में कहां समा सकते हैं? क्योंकि वह देश-काल-वस्तु की परिच्छिन्नता से रहित, पूर्ण है। इसलिये ये सब बातें मन की कल्पनाएँ या अभिनयमात्र हैं। लोग केवल मुँह से 'ईश्वर-ईश्वर, परमात्मा-परमात्मा' कहते तो हैं, परन्तु जानते कुछ भी नहीं।

तात्पर्य यह है कि—'यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति' अर्थात् एक देशी दृष्टि से पूर्ण आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते, किन्तु पूर्ण से ही पूर्ण का अनुभव होता है अनुभव होता नहीं, बल्कि अनुभव रूप है। इस प्रकार के निश्चय का नाम ही 'अनुभव' है। इससे अतिरिक्त एक ही देश, काल, वस्तु या व्यक्ति में तथा एक ही घटना में सुख और दुःख दोनों ही विद्यमान हैं। जो दुःख है, वह भी सुख का द्योतक है। जिस प्रकार से एक

सर्वात्मभाव का जिज्ञासु, जो कि प्राणीमात्र में निजात्मभाव का अनुभव करना चाहता है। वह एक दिन संयोगवश किसी भयानक वन में जा रहा था। सामने से आते हुए बहुत बड़े सिंह पर दृष्टि पड़ते ही, भय के मारे शरीर शिथिल हो गया। पसीने से सारा शरीर भीग गया। शरीर कांपने लगा। केवल प्राण नहीं छूटे, बाकी सारी दुर्गति अपने आप ही हो गई। तब वह एक ऐसी दशा में पहुँच गया जहाँ सारा संसार, शरीर तथा इनके भाव मानों सब लुप्त हो गए हों। ऐसी निर्विकार अवस्था में वह ध्यान करने लगा कि 'सर्व रूप मेरा ही है' अर्थात् वह सिंह और मानव-शरीर, दोनों ही आत्मरूप से मेरे निवास-स्थान हैं। ऐसी स्थिति में उसे दो बातों का अनुभव हुआ। एक तो दुःख के साथ-साथ सुख का, दूसरे सर्वात्मभाव की दृढ़ता का। जिस समय सिंह मार्ग छोड़कर वहाँ से किसी दूसरी ओर चला गया, तब उसके आनन्द का भी कोई अन्त नहीं रहा,—क्योंकि प्रथम तो उसी सिंह के मिलने से मरने का दुःख और अब उसी के चले जाने से जीने का आनन्द हो रहा है। इससे अतिरिक्त एक महान अलभ्य लाभ की प्राप्ति यह हुई—'सर्वात्मभाव की दृढ़ता।' इससे प्रमाणित हो गया कि दुःख में किस प्रकार से आनन्द गर्भित है।

आत्म-कल्याण

आनन्दमय एवं शान्तिमय स्थिति (अवस्था) को 'आत्म-कल्याण' कहते हैं—जिसमें शोक, मोह, दुःख, भय, अशान्ति, अज्ञान, बन्धन आदि का अनुभव न हो। इन दुःखों की अनुभूति अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से होती है। अज्ञान 'गलत ज्ञान' को कहते हैं। कुछ भी हो, दुःख व अशान्ति का प्रत्यक्ष अनुभव तो सभी को हो ही रहा है। इन्हीं से छूटने के लिये, मनुष्यमात्र ही नहीं, बल्कि शरीरधारीमात्र ही जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त नाना प्रकार के शुभाशुभ साधनों के द्वारा सुख (शान्ति) प्राप्ति के लिए तत्पर रहते हैं। अतः दुःख-निवर्तक साधनों को करने से प्रथम, दुःखों के कारण का पता लगा लेना अत्यावश्यक है। जैसे किसी रोग की चिकित्सा करने से प्रथम रोग का निदान (निर्णय) कर लेना अनिवार्य है।

इस तथ्य का विचार इस प्रकार है—जैसे हम लोगों के स्वस्थ शरीर में, कभी अंग-प्रत्यंग जब स्थानभ्रष्ट हो जाते हैं, तब शरीर विकृत हो जाने से दुःख का अनुभव होने लगता है। जैसे—जठराग्नि स्थानभ्रष्ट होकर जब त्वचा में प्रवेश कर जाती है तब भयंकर ज्वर का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार पेट की

नाभि, नाड़ी, अस्थि आदि जब मोच खा जाती हैं अर्थात् तिलभर भी इधर-उधर हो जाती हैं, तो पेट में पीड़ा होने लगती है, दस्त भी लग जाते हैं तथा मोच की जगह सूजन आ जाती है जिससे भयंकर पीड़ा के कारण उठना-बैठना कठिन हो जाता है।

अब विचार इस बात का करना है कि स्वस्थ (सुखी) शरीर में यह नया कष्ट (पीड़ा) कहाँ से आ गया जो कि पूर्व नहीं था? वहीं से, पूर्वोक्त जो जठराग्नि, नाभि, नाड़ी, अस्थि के स्थानभ्रष्ट हो जाने से, सप्त धातुओं में विकृति होकर नाना प्रकार के रोग व दुःख उत्पन्न हो जाते हैं। फिर उन्हीं अंगों को यथास्थान स्थित कर देने पर आये हुए दुःख निवृत्त हो जाते हैं। दुःख या अशांति कोई स्वाभाविक या नित्य नहीं है। ऐसा हो तो किसी भी साधन से, कभी भी इनकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

उपरोक्त विचार की भांति, जिन दुःखों व अशान्तियों से मनुष्य मुक्त होना चाहता है,—जिसे कि कल्याण या मोक्ष कहते हैं—इसमें भी एक विशेष कारण है। वह यही कि हम लोगों का अपना-अपना 'मैं' या 'अभिमान' भी स्थानभ्रष्ट हो गया है। इसी कारण से जन्म, मृत्यु, बन्धन, तीन ताप आदि दुःखों की अनुभूति हो रही है। अतः पुनः उसी 'मैं' को अपने उपयुक्त स्थान पर स्थित कर देने से सुगमता से सर्व दुःखों की निवृत्ति हो सकती है।

हम लोगों के 'मैं' का वास्तविक स्थान सच्चिदानन्द रूप आत्मा है। यही 'मैं' मन, इन्द्रिय व शरीर आदि में आकर स्थान-

भ्रष्ट हो गया है। अतः इसी 'मैं' को आत्मज्ञान के द्वारा फिर अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित करना मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है।

यह 'मैं' अन्तःकरण की सारी वृत्तियों का मूल कारण है अर्थात् 'मैं' से ही ममता (मेरापन) की भावना बनती है तथा ममता से राग-आसक्ति की उत्पत्ति होती है, राग-आसक्ति से शोक-मोह का जन्म होता है तथा शोक-मोह से नाना प्रकार के दुःखों व बन्धनों का प्रादुर्भाव होता है।

अतः इस अनात्म अभिमान (मैं) को आत्म अभिमान के द्वारा निवृत्त कर सकते हैं। जैसे लोहे से लोहा काटा जाता है, उसे काटने के लिये दूसरा कोई साधन नहीं हो सकता। इसी प्रकार से मलिन अभिमान को शुद्ध अभिमान के द्वारा निवृत्त कर सकते हैं। शुद्ध अभिमान आत्मज्ञान के द्वारा होता है। आत्मज्ञान सद्गुरु के द्वारा प्राप्त होता है। सद्गुरु की प्राप्ति आत्म-कृपा से होती है तथा आत्म-कृपा सत्संग से प्राप्त होती है।

जीव का कल्याण तब होता है जब उसे तीन प्रकार की कृपा प्राप्त होती है—(१) आत्म-कृपा (२) गुरु-कृपा (३) ईश्वर-कृपा।

आत्म-कृपा के बिना गुरु-कृपा नहीं हो सकती, गुरु-कृपा के बिना ईश्वर-कृपा नहीं हो सकती, ईश्वर-कृपा के बिना आत्म-कल्याण नहीं हो सकता। इसलिये मुख्य साधन अपने ऊपर अपनी कृपा है। अपनी कृपा का तात्पर्य—आत्म-कल्याण (मोक्ष)

की तीव्र जिज्ञासा, मुमुक्षुत्व है। केवल एकमात्र यही इच्छा शेष रह जाय अर्थात् पानी के बिना जैसे मछली व्याकुल हो जाती है, वैसे ही आत्मसाक्षात्कार के लिये तड़प पैदा हो जाय।

गुरु दो प्रकार के होते हैं, एक तो गुरु, दूसरे सद्गुरु। जिसके द्वारा किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो, उसे गुरु कहते हैं तथा जिसके द्वारा या कृपा से मोक्ष, आत्मा या ईश्वर की प्राप्ति हो, उसे सद्गुरु कह सकते हैं। सद्गुरु का लक्षण शास्त्रकारों ने ऐसा किया है—

'गु' शब्दस्त्वन्धकारो 'रु'कारस्तन्निरोधकृत ।
तयोरैक्यं परंब्रह्म 'गुरु'रित्यभिधीयते ॥

अर्थात् 'गु' कहते हैं अन्धकार को तथा 'रु' कहते हैं निरोध (नष्ट) करने वाले (प्रकाश) को। जो शिष्य के अज्ञानरूपी अन्धकार को अपने सदुपदेशरूपी प्रकाश के द्वारा निवृत्त करके पूर्ण ब्रह्म को (आत्म रूप से) अनुभव करा दे।

जिस का अन्तःकरण विवेक-वैराग्ययुक्त है, ऐसे अधिकारी मुमुक्षुओं को ही सद्गुरु आत्मसाक्षात्कार करा सकता है। जिस प्रकार से संसार के किसी भी दृश्यमान पदार्थ को देखने के लिये मुख्य दो साधनों की आवश्यकता पड़ती है—प्रथम अपनी आंख, दूसरे सूर्य-प्रकाश। यदि इन दोनों में से एक की भी कमी रहेगी तो कोई भी वस्तु नहीं दीख सकती अर्थात् अपने नेत्र हों और

प्रकाश न हो अथवा प्रकाश हो किन्तु अपने नेत्र न हों, तब कुछ भी नहीं देख सकते।

इसी प्रकार अपनी सूक्ष्म या शुद्ध बुद्धि एवं गुरु का ज्ञान रूप प्रकाश, दोनों का जब संयोग हो तभी सर्व दुःखों की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है।

अतः जिस ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के द्वारा आत्म-कल्याण होता है, जिसे वेदों, शास्त्रों, ऋषियों, मुनियों व तत्त्ववेत्ताओं ने कथन किया है, उसी अनुभूत ब्रह्मविद्या का इस 'अद्वैत-दर्शन' के रूप में प्रतिपादन किया जाता है।

प्राणीमात्र का उद्देश्य

मनुष्यमात्र जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त किस कमी को पूरा करने में लगा रहता है ?

चाहे वह बालक हो या वृद्ध, स्त्री हो या पुरुष, धनवान् हो या निर्धन, राजा हो या रंक, विद्वान् हो या मूर्ख, ज्ञानी हो या अज्ञानी, पापी हो या पुण्यात्मा, रोगी हो या निरोगी, हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या बौद्ध, आस्तिक हो या नास्तिक, चाहे वह किसी भी जाति, देश, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, आश्रम या समाज का मानने वाला क्यों न हो, अथवा विश्वप्रेमी, समाज-प्रेमी, राष्ट्रप्रेमी, मानवमात्र या प्राणीमात्र का प्रेमी एवं हितैषी हो, राजनैतिक या धार्मिक हो, यहाँ तक कि पशु-पक्षी इत्यादि कोई भी शरीरधारीमात्र ही क्यों न हो; — ये सब नाना प्रकार के साधनों द्वारा क्या चाहते हैं ?

चाहे वह साधन उचित हो या अनुचित, व्यावहारिक हो या पारमार्थिक अर्थात् नाना प्रकार की विद्या, ज्ञान, विज्ञान, नौकरी, व्यापार, कृषि, शासन, मान, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, धन, बड़े-बड़े मकान, उत्तम से उत्तम खाद्य पदार्थ, उत्तम से उत्तम वस्त्र, उत्तम

से उत्तम सङ्गीत, नाट्य इत्यादि, उत्तम से उत्तम सुगन्धित द्रव्य, संसार के समस्त भोग्य पदार्थों के द्वारा हम लोग क्या चाहते हैं ?

अथवा ज्ञान, योग, भक्ति, सत्संग, तप, जप, स्वाध्याय, तीर्थ-यात्रा, सेवा, पूजा, त्याग, मोक्ष, समाधि, ईश्वर-प्राप्ति, स्वर्ग, वैकुण्ठ इत्यादि नाना स्थानों एवं पदार्थों के द्वारा किस लक्ष्य की खोज में लगे हुए हैं ? कौन-सी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये हम सारा जीवन समाप्त कर देते हैं ?

आइये, इस महान कठिन समस्या पर कुछ थोड़ा-सा विचार करें कि हम सबके सब किस लक्ष्य व कमी को पूरा करना चाहते हैं ?—जिसकी पूर्ति के लिये यदि हम सारे विश्व के सम्राट् भी बन जावें, तो भी वह कमी ज्यों की त्यों बनी रहती है। बहुत ही गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर पता लगता है कि हम सब के सब परोक्षरूप में या अपरोक्ष रूप में, ज्ञात रूप में या अज्ञात रूप में, केवल 'आनन्द' की ही खोज में लगे हैं। परन्तु किस प्रकार का आनन्द चाहते हैं ? स्थायी और अधिक से अधिक अर्थात् नित्य व पूर्ण। 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'। किसी से भी यदि प्रश्न किया जाय—'आपका नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म करने का क्या तात्पर्य है ?' तब चाहे वह भले ही कह देवे कि—'जी, देश की सेवा, लोगों के सुधार, मानवमात्र की भलाई, धर्म-प्रचार, संगठन, शान्ति-स्थापन, नाना प्रकार की विद्या व ज्ञान-प्राप्ति, धन एकत्रित करने, मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति एवं ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिये अथवा ईश्वर, मोक्ष, शान्ति,

समाधि इत्यादि प्राप्त करने के लिये साधन व कर्म कर रहे हैं।' ठीक है,—परन्तु इन सब उद्देश्यों के पर्दे में कौन सी वस्तु छिपी है जिसको अज्ञात रूप में चाहते हो ? इसका उत्तर फिर वही आ सकता है कि "नित्य सुख के लिये"। क्योंकि ऐसा प्रत्यक्ष देखा गया है कि लोगों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये या देश की स्वतन्त्रता के लिये अथवा किसी परोपकार के लिये अपने प्राण तक भी बलिदान कर दिये हैं, कर रहे हैं या करते रहेंगे। इसमें भी यही सिद्धान्त गर्भित है कि अपनी या लोगों की सुख-शान्ति के लिये ही ये सब कार्य किये जाते हैं।

दृष्टान्त—एक बार अमेरिका के प्रेसीडैण्ट इब्राहीम लिङ्कन अपने कार्यालय को जा रहे थे। उन्होंने रास्ते में देखा कि एक सूअर किसी कीचड़ या दलदल में फँसा हुआ है और चिल्ला रहा है। निकलने का जितना ही यत्न करता है, उतना ही और अधिक फँसता जाता है। इब्राहीम ने देखा तो वे उसे इस दशा में छोड़ कर आगे नहीं जा सके। 'कार' वहीं खड़ी की तथा उन्हीं वस्त्रों में जाकर सूअर को तो बाहर निकाल दिया, परन्तु कपड़े कीचड़ से खराब हो गये। वे उसी प्रकार से आफिस में चले गये। बड़े-बड़े कर्मचारियों ने प्रधान जी के वस्त्रों को देखा और कारण ज्ञात किया तो सारे कर्मचारी बड़ी प्रशंसा करने लगे कि आप तो बड़े ही दयालु हैं। आप जैसा तो कोई कर ही नहीं सकता। तब इब्राहीम ने कहा—'क्यों व्यर्थ झूठ बोल रहे हो। मैंने ऐसी कौन-सी दया उस (सूअर) के ऊपर की है जो इतनी प्रशंसा

कर रहे हो। मैंने तो केवल अपने ही ऊपर दया की है। जब उस को चिल्लाते हुए देखा तो मुझे बड़ा विक्षेप (दुःख) हुआ, इसलिये उसे मिटाने के लिये ही मैंने ऐसा किया। सूअर के ऊपर मैंने कोई उपकार नहीं किया।' इसी प्रकार जिन लोगों ने देश की सेवा के लिये अथवा और किसी प्रकार के परोपकार के लिये, नाना प्रकार के कष्ट सहे या प्राण तक दिये, यदि ऐसे महानुभावों के अन्दर इस के कारण की खोज की जाय तो ज्ञात होगा कि इन लोगों के भीतर बड़ी प्रचण्ड अग्नि जलती रहती थी जिसकी वेदना बड़ी ही असह्य होती थी। उसी को शान्त करने के लिये वे लोग ऐसा बलिदान किया करते थे और आगे भी करते रहेंगे। जिस प्रकार,—क्रान्तिकारी भगतसिंह ने अपनी बहिन के सामने जलते हुये दीपक की लौ के ऊपर हाथ रखा, जलते-जलते हाथ में छिद्र हो गया फिर भी 'सी' तक नहीं कीं। इतनी कठोरता व साहस का कारण पूछने पर बतलाया—"इससे हजारों गुना अग्नि तो हमारे अन्दर जल रही है"। इन बातों से ज्ञात होता है कि कोई भी, किसी प्रकार का उपकार किसी दूसरे के ऊपर नहीं करता, वरन् अपने-अपने दुःख व विक्षेप को मिटाने के लिये ही सारे उपचार किये जाते हैं। अस्तु !

यह परम रमणीक (अति सुन्दर) आनन्द हमें इतना प्रिय क्यों है कि हम इस के लिये शरीर, प्राण, पुत्र, स्त्री, धन, मकान, कुटुम्ब, परिवार, मित्र, सम्बन्धी, धर्म, कर्म, ईश्वर, जाति, मजहब, राष्ट्र, समाज, वर्ण, आश्रम, देश, काल इत्यादि का तृण के सदृश

परित्याग कर देते हैं ? इसलिये कि यह 'आनन्द' अपना 'आत्मा' अर्थात् अपना 'आपा' है। 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'—अर्थात् संसार के समस्त पदार्थ जो एक दूसरे को प्रिय हैं, वे उस सम्बन्धी व पदार्थ के लिये प्रिय नहीं हैं, किन्तु आनन्द स्वरूप अपने आत्मा के लिये ही प्रिय हैं, क्योंकि 'आनन्द' परमप्रेम का आस्पद है। संसार के जो भी पदार्थ प्राणों से भी अत्यन्त प्रिय हैं, जहाँ अपने स्वार्थ (आनन्द, में किञ्चित भी अन्तर पड़ा कि फिर वही पदार्थ काल की भांति प्रतीत होने लगते हैं।

जिस प्रकार से नारद जी ने विष्णु भगवान को शाप दिया था तथा भर्तृहरिजी ने प्राणप्रिया पिङ्गला का त्याग कर दिया था, हिरण्यकशिपु ने पुत्र प्रह्लाद को, मीरा ने पति को, भरत ने माता कैकेयी को, ध्रुव ने पिता को, विभीषण ने भ्राता रावण को, ईसा-मसीह को उनके शिष्यों ने, हसन-हुसेन को उनके मुरीदों ने तथा देश-हितैषी भगतसिंह राजगुरु चन्द्रशेखर, श्री सुभाषबाबू इत्यादि ने शरीर व प्राणों को तृण के समान परित्याग कर दिया था। इन सब घटनाओं से ज्ञात होता है कि व्यष्टि व समष्टि रूप में स्वार्थ (स्व+अर्थ=स्वार्थ=आनन्द) के लिये ही ऐसा किया जाता है। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये एक प्रत्यक्ष सबकी अनुभवसिद्ध युक्ति उपस्थित की जाती है।

किसी व्यक्ति का अपने एक युवा पुत्र में बहुत ही प्रेम है जो कि बहुत ही सुन्दर, विद्वान, योग्य तथा पिता का परमभक्त है। पिता को ऐसा पुत्र प्राणों से भी प्यारा है। मैं ऐसे पिता से प्रश्न

करता हूं कि 'आपका प्रेम किस वस्तु में है ?' पिता कहता है–'पुत्र में'। मैं कहता हूँ–'कदापि नहीं, तुम्हारा प्रेम किसी और वस्तु में है जिसका तुमको ज्ञान नहीं है'। फिर भी पिता कहता है–'पुत्र के अतिरिक्त और किसी वस्तु में मेरा प्रेम नहीं है'। मैं फिर कहता हूँ—'आप भूल में हैं, आपका प्रेम पुत्र में कदापि नहीं'। वह नहीं मानता, हठ करता है। दैवयोग से पुत्र की मृत्यु हो जाती है। अब वही पिता शिर-छाती पीटता है, रोता-चिल्लाता है। तब मैं फिर पूछता हूं—'इतना रो क्यों रहे हो ?' तो कहता है—'देखते नहीं हो, लड़के की मृत्यु हो गई है।' मैं कहता हूँ–'लड़का तो आपका ज्यों-का-त्यों सर्वाङ्गपूर्ण लेटा हुआ है, आपको चिन्ता किस बात की ? आपकी प्रिय वस्तु तो आपके सामने पड़ी है। अब भी उसकी समझ में यह बात नहीं आ रही कि– 'हमारे प्रेम की वस्तु कौन सी है ?' इतना रो-पीटकर भी अभी आँखें नहीं खुलीं। इसके बाद वही पिता अपने ही हाथों से लकड़ियाँ चुनकर, उसी पुत्र को अपने ही हाथों से उठाकर चिता के ऊपर रखता है और अपने ही हाथों से अग्नि लगाकर, अपनी आंखों के सामने ही अपने उस प्राणप्यारे पुत्र को जलता हुआ देखता है। इतनी कठोरता ! इतनी निर्दयता ! ऐसा क्रूर व्यवहार तो कोई अपने शत्रु के साथ भी नहीं करता। तब मैं फिर पूछता हूं— 'अपने प्राणप्रिय पुत्र के साथ इतनी निष्ठुरता ? क्या अभी तक आप की आंखें नहीं खुलीं ? विचारिये कि इस में आप की प्रिय वस्तु कौन-सी है जिसका अभी तक पता नहीं चला ?'

यही दशा पुत्र-माता, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य अथवा सभी प्रेमी या सम्बन्धी एक दूसरे के साथ करते ही रहते हैं। अब फिर मैं अन्त में सबसे प्रश्न करूँगा कि ऐसी कौन-सी आपकी प्यारी वस्तु है जिसके न रहने पर वही प्रेमपात्र जलाकर राख बना दिया जाता है? अब इन लोगों की आंखें खुलीं कि हाँ, हमारे प्रेम की वस्तु यह शरीर तो नहीं है जिसको हम अपना प्रेमपात्र समझते थे। तो फिर कौन सी वस्तु है, जिसको जानते तो नहीं किन्तु प्रेम करते हैं? हाँ, तो ठीक है, विचार (अनुभव) करने से ज्ञात होता है कि इन शरीरों को सुन्दर, रमणीय, शक्तिशाली, गतिशील बनाने वाली जो इनमें चेतनाशक्ति अर्थात् आनन्द स्वरूप आत्मा है, वही परम प्रेमास्पद स्वरूप, सबका अपना आप, 'चेतन-स्वरूप' आत्मा है।

इसी चेतन आत्मा के लिये ही जिस समय किसी का कोई भी प्रेमी सम्बन्धी मर जाता है, तो रो-रोकर, शिर-छाती पीट-पीट कर पागल हो जाते हैं, खाना-पीना त्याग देते हैं। बहुत दिनों के पश्चात् फिर कुछ शान्ति आती है।

परन्तु इतनी व्याकुलता इस शरीर के लिये नहीं होती है, क्योंकि वह तो आगे पड़ा है। इसलिये जिस वस्तु की खोज जीवनपर्यन्त हर प्रकार के साधनों द्वारा करते रहते हैं, वह केवल आनन्द स्वरूप अपना आत्मा ही है।

वह आनन्द दो प्रकार का है—सोपाधिक और निरुपाधिक। सोपाधिक आनन्द उसे कहते हैं जो किसी-न-किसी साधन,

उपाधि या विषय के सम्बन्ध से अनुभव में आवे। जैसे--शरीर, प्राण, मन, बुद्धि इत्यादि उपाधि या शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा इत्यादि साधनों के द्वारा जो क्षणिक अनुभव में आता है उसी को अधिक और स्थायी बनाने का उपाय जीवन प्रर्यन्त करते रहते हैं। परन्तु यह सोपाधिक आनन्द जब तक विषय (भोग्य) तथा (भोक्ता) का सम्बन्ध रहता है, तभी तक अनुभव में आता है, आगे पीछे कुछ नहीं। इस प्रकार के 'आनन्द से' आज तक किसी को भी स्थायी शान्ति प्राप्त नहीं हुई। इसलिये आइये, उस सच्ची शान्ति व सच्चे सुख की खोज करें, जिसकी हम लोगों को हार्दिक जिज्ञासा है। मैं प्रथम निवेदन कर चुका हूं कि निरुपाधिक आनन्द ही हमारे मतलब की वस्तु है। तो फिर ऐसा निरुपाधिक आनन्द कहां है ? उसका स्वरूप क्या है ? वह कैसे प्राप्त हो सकता है ? प्रथम थोड़े शब्दों में विचार किया जाता है, फिर विस्तार पूर्वक विचार किया जायेगा।

वास्तव में सच्चा आनन्द अपने आप में है, वह (स्वसंवेद्य) मन और वाणी से अतीत है। सत्संग तथा अपरोक्ष ज्ञान साधन हैं। जहां तक मन-वाणी की पहुँच है, वहाँ तक सोपाधिक आनंद है, इसलिए निरुपाधिक आनन्द कथन-चिन्तन की वस्तु नहीं है, किन्तु अनुभवगम्य है। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्था में वृत्तियों की समाप्ति होकर निर्विकल्प समाधि में या तुरीया अवस्था में स्थिति होती है, तब निरुपाधिक स्व-आनन्द की अनुभूति होती है। सारांश यह है कि जिस समय यह पूर्ण रूप से अनुभव होने

लगे कि केवल एक सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म स्वयं अपना आप ही अपनी महिमा में पूर्ण है और वही सर्वरूप है। और जब कि वह देश, काल, वस्तु की परिच्छिन्नता से रहित है तो फिर उसका कथन-चिन्तन नहीं हो सकता अर्थात् वह अपने आपको आप ही देखता है, सुनता है, सूँघता है, खाता-पीता है, स्पर्श करता है, चिन्तन करता है, निश्चय करता है। तात्पर्य यह है कि—ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय, द्रष्टा दर्शन-दृश्य इत्यादि त्रिपुटी रूप स्वप्नवत् आप ही है। इसलिए सबसे प्रथम अपना पता लगाना चाहिए।

अपना पता लगाना चाहिये

एक कहावत है—'घर का योगी योग्य न, आन गाँव का सिद्ध'। यही बात यहाँ भी चरितार्थ होती है कि सारे संसार को नाना प्रकार के साधनों द्वारा छान डालते हैं, परन्तु अपने अन्दर झाँकी मार नहीं देखते कि जिस वस्तु के पाने के लिये हम बाहर इतने व्याकुल हो रहे हैं तथापि अभी तक मरुभूमि के जलाभास की भाँति बराबर वह दूर भागती जा रही है, हाथ नहीं लग रही है, इसका क्या कारण है ? जो वस्तु आपकी जेब में होगी, वह क्या बाहर खोजने से प्राप्त हो सकती है ? कदापि नहीं। जिन लोगों को स्थायी विश्राम प्राप्त हुआ है, उन्हें अपने अन्दर ही हुआ है, बाहर नहीं ।

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि अपने ही अन्दर है तो अनुभव क्यों नहीं होता ? उत्तर है कि अनुभव तो हो रहा है; परन्तु मानते नहीं। जिस प्रकार संसार के किसी भी दृश्य पदार्थ के दीखने से प्रथम प्रकाश का दर्शन होता है और प्रकाश से भी प्रथम प्रकाश का द्रष्टा ज्ञान-स्वरूप आत्मा स्वतः सिद्ध है कि जिसके बिना प्रकाश सहित दृश्य देखने में आ ही नहीं सकता।

किन्तु अधिकांश लोग प्रकाश एवं द्रष्टा को महत्व न देकर दृश्य को ही महत्व देते हैं। जिस ज्ञान तत्त्व के बिना दृश्य या दर्शन का ज्ञान कदापि हो ही नहीं सकता, उसको वे समझते ही नहीं। यही सर्व प्रकाशक आत्मा का अज्ञान है।

अथवा जिस प्रकार से मृत्यु और संसार की अनित्यता का अनुभव तो सभी को हो रहा है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में क्रियात्मक रूप से इसे कोई विरला ही मानता है। मेरे विचार में तो यह बात आती है कि यदि सारे संसार के सारे मनुष्य क्रियात्मक रूप से इस बात को मानने लग जायँ कि मृत्यु है, जो सारे संसार के प्राणीमात्र को समाप्त करती रहती है, और मुझे भी एक दिन चट कर जायगी, तो मैं यह बात प्रतिज्ञापूर्वक कह सकता हूँ कि सारे संसार से नाना प्रकार के अनर्थ, पाप, अन्याय, कलह, विद्वेष आदि सदा के लिये समाप्त हो जायँ। फिर तो यही संसार, जो आज अधिकांश में घोर नरक का रूप धारण किये हुये है, पूर्ण रूप से स्वर्ग बन सकता है।

जो बड़े-बड़े राष्ट्रवादी नाना प्रकार की विध्वंसक वैज्ञानिक शक्तियों एवं नाना प्रकार के छल, छिद्र के द्वारा परस्पर एक दूसरे का विनाश करने पर तुले हुए हैं वे, ऐसा न करके, सारे संसार के मनुष्यमात्र को अपना भाई समझते हुए और संसार भर को अपना देश समझते हुये, इन्हीं विध्वंसक शक्तियों को प्राणीमात्र की भलाई, हित या सुख-शान्ति के लिए ही प्रयुक्त करने लग जायँ।

किसी व्यक्ति, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक संस्था, मज़हब, सम्प्रदाय अथवा किसी राष्ट्र के द्वारा हमेशा से जो-जो अनर्थ या अन्याय होते आये हैं या हो रहे हैं,—तब वे सब कभी न होते। अस्तु! इसी का नाम तो प्रमाद या अज्ञान है कि वस्तु को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी व्यावहारिक जीवन में क्रियात्मक रूप से उसे न मानना। ठीक इसी प्रकार की नित्यमुक्त आनन्दस्वरूप अपने आत्मा की समस्या भी है। अन्दर प्रत्यक्ष भान होते हुए भी आनन्द या ईश्वर की खोज बाहर कर रहे हैं।

हम कहीं, कभी भी विश्राम नहीं पाते। जब पाते हैं तो बाहर से सर्वथा निराश होकर अपने आपे में ही विश्वास करने से पाते हैं। चाहे आधिभौतिक उन्नति का लक्ष्य हो अथवा आध्यात्मिक का, अपने ही भीतर से हर एक ज्ञान या वस्तु का विकास या प्रकाश होता है। प्रथम व्यावहारिक अर्थात् आधिभौतिक समस्या पर विचार किया जाता है। आज तक बड़े-बड़े वैज्ञानिक, दार्शनिक विद्वानों, ऋषि-मुनियों ने जितनी भी नाना प्रकार की वैज्ञानिक वस्तुओं, दर्शन शास्त्रों या विद्याओं के जो आविष्कार किये हैं, तो वे क्या केवल बाह्य साधनों द्वारा किए हैं अथवा भीतर मस्तिष्क की ज्ञान-शक्ति के द्वारा ही इन चमत्कारिक वस्तुओं के आविष्कार किये हैं?

नाना प्रकार की वैज्ञानिक वस्तुएं, रेल, तार, टेलीफोन, वायुयान, रेडियो, कैमरा, वायरलैस, सिनेमा, दूरवीक्षण, टेलीविजन,

भारतीय व पाश्चात्य दर्शन शास्त्र अथवा विभिन्न प्रकार की डाक्टरी, आयुर्वेदिक तथा यूनानी औषधियाँ जो हम लोगों के प्रयोग में आ रही हैं, इन सबका भी किसी-न-किसी के मस्तिष्क से ही प्रादुर्भाव हुआ है और आगे भी होता रहेगा। अथवा संगीत, नाट्य, फिल्म, सिनेमा, वाद्य, विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ, सुगन्धित द्रव्य इत्यादि संसार के अन्तर्गत जितने भी रमणीक, आनन्ददायक, परमोपयोगी भोग्य पदार्थ हम लोगों के उपभोग में आ रहे हैं,—क्या वे केवल प्राकृतिक ही हैं ? क्या इन वस्तुओं का किसी-न-किसी के मस्तिष्क से आविष्कार या प्रादुर्भाव नहीं हुआ ?

इन प्रत्यक्ष प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो गई कि यह मनुष्य ही वास्तविक सर्वशक्तिमान् ईश्वर है। इससे पृथक् बाह्य ईश्वर इस मनुष्य का 'मानस-पुत्र' है। इस वाक्य से द्वैतवादी घबड़ा जायेंगे, किन्तु वेदान्त शास्त्र ने ६ अनादि तत्वों में से केवल ब्रह्म (चेतनसत्ता) को ही अनन्त, अनादि माना है। शेष ईश्वर, जीव, प्रकृति, जगत एवं कर्म को सर्वाधिष्ठान चेतन में अध्यस्त अर्थात् कल्पित माना है। इसलिए बाह्य ईश्वर को मनुष्य का 'मानस-पुत्र' कहना शास्त्रविरुद्ध नहीं है।

विधि (अन्वय) पक्ष में—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—अर्थात् यह चराचर जगत्, पांचों तत्वों सहित, निश्चय करके ब्रह्मरूप है। अतः

यह मनुष्य ही नाना प्रकार के ज्ञान, विज्ञान, विद्या, बुद्धि, ऋद्धि; सिद्धि, आनन्द, शान्ति, कला, कौशल इत्यादि समस्त विभूतियों या शक्तियों का स्रोत, केन्द्र, भण्डार, कारण एवं उद्गम-स्थान है।

बाह्य साधनों से तो इन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है, उत्पत्ति नहीं होती। जिस प्रकार न्यूटन ने साधनों या घटनाओं से गुरुत्वाकर्षणशक्ति की खोज मात्र की, कोई नवीन वस्तु उत्पन्न नहीं की। क्योंकि उनके खोज करने से प्रथम यदि गुरुत्वाकर्षण-शक्ति होती ही नहीं तो चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, ग्रह, उपग्रह इत्यादि स्थित कैसे रहते ? कारण रूप से प्रत्येक वस्तु विद्यमान रहती है, प्रयोग या साधन करने से उसी का कार्य रूप से प्रादुर्भाव होता है।

जिस प्रकार एलेक्ट्रन-प्रोटन अथवा नैगेटिव-पोज़ेटिव प्वाइन्ट का मेल ही कार्य रूप विद्युत की उत्पत्ति तथा प्रकाश होने में कारण होता है, इसी प्रकार पुरुष तथा प्रकृति अर्थात् चेतन तथा जड़ का संयोग ही नाना प्रकार के कार्य रूप नाम-रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति में कारण है। ये दोनों शक्तियाँ नित्य व अनादि हैं, किन्तु स्वरूप से हैं दोनों एक ही। यदि दोनों एक न हों तो दो विरोधी वस्तुएं एक देश, काल में कभी स्थित ही नहीं रह सकतीं। जिस प्रकार से नैगेटिव तथा पोज़ेटिव पृथक्-पृथक् होने पर भी दोनों विद्युत करैण्ट एक ही हैं।

पृथ्वी के भीतर नाना प्रकार के खनिज पदार्थ—हीरा, सोना, चाँदी, कोयला, पत्थर, तेल, जल इत्यादि विद्यमान हैं। परन्तु उनसे हमें कोई लाभ नहीं,—जब तक कि ऊपर का परदा या

आवरण हटाकर उनको प्रत्यक्ष न कर लिया जाय। इसी प्रकार लोक में जितने भी साधन हैं, वे केवल परदा हटाने के लिए हैं, न कि वस्तु को उत्पन्न करने के लिए! आत्मा अर्थात् अपने आपे में सर्व प्रकार के आनन्द, ऋद्धि, सिद्धि, ऐश्वर्य, मुक्ति, शान्ति, स्वर्ग, वैकुण्ठ, ईश्वर आदि गर्भित हैं। साधनों से केवल इनको प्रत्यक्ष करके, इनके ऊपर विश्वास करने और इन्हें मानने लग जाते हैं अर्थात् अनुभव करने लगते हैं।

अनुभव दो प्रकार का होता है—भेद तथा अभेद। जैसे गवर्नमैन्ट के खजाने में या किसी सेठ की तिजोरी में लाखों, करोड़ों रुपये देखने में आते हैं, परन्तु उन रुपयों से हमें कोई लाभ नहीं, क्योंकि अपने पास तो एक पैसा भी नहीं देखते। क्या इस प्रकार से दूसरे का रुपया देखने से हमारी दरिद्रता दूर हो सकती है, जब तक कि उस रुपये को अपना अनुभव न कर लिया जाय? यद्यपि जब हम दूसरे के पास रुपये का अनुभव करते हैं, तब भी वह संसार में ही है और जब हम उसे अपने पास अनुभव करेंगे, तब भी वह संसार में ही रहेगा, तथापि जब तक रुपया दूसरे के पास है तब तक हम उसका उपयोग नहीं कर सकते, अपने पास होने पर ही उपयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार जिन शक्तियों तथा आनन्द को हम अपने से भिन्न, किसी दूसरे ईश्वर या अन्य किसी देश, काल में मानते हैं और नाना प्रकार के साधनों द्वारा उनके लिए याचना करते रहते हैं, तब तक कभी भी हमें सुख या शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। जब इन शक्तियों को हम

दूसरे (ईश्वर) में मानते थे, तब भी वे अपने आपे में ही थीं और जब उन्हें अपने आपे में अनुभव करते हैं, तब भी वे अपने अन्दर ही रहीं। परन्तु जब तक 'अहं' या 'मम' के रूप में अपने आपे का अनुभव न कर लिया, तब तक हम उनका उपयोग नहीं कर सकते।

इस सर्वशक्तिमान मनुष्य की अल्पज्ञता का दिग्दर्शन तो कीजिये,—यह स्वयं ही पर्वतों से शिला निकालकर अपनी भावना के अनुसार नाना प्रकार की देवी-देवताओं की मूर्तियों को बनाता है, स्वयं ही लाखों-करोड़ों रुपये लगाकर बड़े-बड़े विशाल मन्दिरों का निर्माण करता है, फिर स्वयं ही बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा कराता है, स्वयं ही उनमें नाना प्रकार की शक्तियों एवं गुणों को, अपनी भावना द्वारा आरोप करके, भरता है और फिर स्वयं ही दीन, हीन, दुःखी बनकर उन्हीं देवताओं से कृपा की भीख मांगता है।

ध्यान तथा भावना करते-करते जब किसी ध्येय के ऊपर वृत्ति एकाग्र हो जाती है तो उसका वह संकल्प पूरा हो जाता है। तब वह समझता है कि प्राप्त वस्तु उस देव की कृपा से ही प्राप्त हुई है। यदि उस देव में इतनी शक्ति और इतनी उदारता होती तो सभी उपासकों की कामनायें पूरी हो जानी चाहिये थीं, किन्तु निन्यानवे प्रतिशत उपासक भक्त कोरे-के-कोरे तथा निराश ही रह जाते हैं। तथापि जिनकी कामना पूरी हो जाती है, वे उसे देव के द्वारा प्राप्त हुई ही मानते हैं।

वैज्ञानिक और शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार नैगेटिव तथा पोज़ेटिव दोनों विद्युत करैन्टों का जब संयोग होता है, तब उसी में विद्यमान (रहने वाली) विद्युच्छक्ति क्रियात्मक रूप से प्रत्यक्ष हो जाती है। इसी प्रकार से जब उपासक की वृत्ति उपास्य में, ध्याता की वृत्ति ध्येय में, एकाग्र हो जाती है तब उसी के अन्तः-करण में रहने वाली इच्छाशक्ति फल के रूप में उपस्थित हो जाती है। इसी को अज्ञानी लोग दूर देश से तथा दूसरे के द्वारा हुई प्राप्ति मानते हैं। इसलिए किसी दार्शनिक का कहना है—

न देवो विद्यते काष्ठे, न पाषाणे न मृणमये।
भावे हि विद्यते देवो, तस्माद् भावो हि कारणम्॥

अर्थात् कामना-पूरक देव न तो काष्ठमयी मूर्ति में है, न पाषाणमयी मूर्ति में और न मृण्मयी मूर्ति में। देव तो अपने भाव के अन्दर ही है, इसलिए (कामना की पूर्ति में) अपना भाव ही कारण है। वैसे तो चेतनदेव, व्यापक होने से, सब में है ही।

वास्तव में तो आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ईश्वर और उसकी विभूति अपनी आत्मा से पृथक् हैं ही नहीं। यदि वे आत्मा से पृथक् हों तो अनात्मा, जड़ तथा अनित्य सिद्ध होंगी। थोड़े समय के लिए (दुर्जन-सन्तोष न्याय से) भिन्न मान भी लिया जाय, तो अपने उस अज्ञात स्वात्मानन्द के सिंहासन पर पूर्ण रूप से सुगमता पूर्वक आरूढ़ होने के लिए दो प्रकार के साधन बतलाये जाते हैं—आत्मज्ञान तथा आत्मनिवेदन। प्रथम आत्म ज्ञान के विषय में अगले प्रकरण में विचार किया जाता है।

आत्मज्ञान का स्वरूप

+++++++++

आत्म-ज्ञान कहते हैं अपने (मैं) की पहिचान को अर्थात् अपने आपको जान लेना कि 'मैं कौन हूँ ?'

प्रथम इस बात का विचार करना है कि जिसको शास्त्रकारों ने अथवा विद्वानों ने ईश्वर, गॉड, खुदा, परमात्मा इत्यादि नामों से कथन किया है,--उसका स्वरूप क्या है और वह कहाँ रहता है ? उसका और हमारा सम्बन्ध क्या है ?

कोई भी ईश्वरवादी ऐसा न होगा जिसको बाध्य होकर ईश्वर का स्वरूप 'सत्-चिद्-आनन्द' तथा रहने की जगह 'सर्वत्र परिपूर्ण' न माननी पड़े। यदि उसका स्वरूप इसके अतिरिक्त और कुछ माना जायगा तो वह ईश्वर ही न होकर, बालकों के खेलने का खिलौनामात्र बन जायगा। इसी सच्चिदानन्द को दूसरे शब्दों में 'हस्ती-इल्म-सरूर' और 'ला-महदूद' कहते हैं। इङ्गलिश में इसी को 'एग्ज़िस्टेन्स नॉलेज ब्लिस' कहते हैं। बौद्ध इसी तत्त्व को 'शून्य' या 'निर्वाणपद' कहते हैं। नास्तिक भी इसी तत्व को Nature (प्रकृति) रूप से मानते हैं। वैज्ञानिकों ने इसी तत्त्व को दो भागों में विभक्त कर दिया है जिनको क्रियाशक्ति (एलैक्ट्रन) और ज्ञानशक्ति (प्रोटन) कहते हैं। इन्हीं को जड़ (प्रकृति)

और चेतन (पुरुष) तत्व भी कह सकते हैं। इन्हीं दोनों तत्वों से समस्त कारण, कार्य या नाम-रूपात्मक जगत् ओतप्रोत है। ये दोनों तत्व नित्य और अनादि हैं, परन्तु दोनों स्वरूप से एक ही हैं, जैसे सामान्य या विशेष अग्नि और वायु, भिन्न होते हुए भी, स्वरूप से एक ही हैं। यही दोनों तत्व सारे विश्व के निमित्त और उपादान कारण हैं। एलैक्ट्रन-थ्यौरी वाले वैज्ञानिकों का भी ऐसा ही मत है। वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित परमाणु वीक्षणयन्त्र के द्वारा निरीक्षण करने से प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि एलैक्ट्रन, प्रोटन के चारों ओर १८१६२८ मील प्रति सैकिण्ड की चाल से चक्कर काट रही है और यही सारे जगत् का आदि, अन्त तथा कारण हैं।

अब इस बात का विचार करना है कि वह ईश्वर तत्त्व सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप क्यों है ? सत् इसलिए है कि उसका कभी नाश नहीं होता। 'चित्' इसलिए है कि वह ज्ञान-स्वरूप है। 'आनन्द' इसलिये है कि उसमें दुःख नहीं है। ऐसा सच्चिदानन्द-स्वरूप ईश्वर रहता कहाँ है ? विचार करने से ज्ञात होता है कि वह सर्वत्र व्यापक तथा सर्वरूप है। व्यापकत्व का लक्षण शास्त्रकारों ने ऐसा किया है—'देश-काल-वस्तु-परिच्छेद-राहित्यं—व्यापकत्वम् इति' अर्थात् जो तत्व देश, काल और वस्तु की परिच्छिन्नता से रहित हो, उसे व्यापक कहते हैं। अथवा जो तत्व प्रत्येक देश, काल तथा वस्तु में कारण रूप से ओतप्रोत हो, उसे व्यापक कहते हैं।

जिस प्रकार नाना प्रकार के भूषणों में स्वर्ण, नाना प्रकार के वस्त्रों में रुई, नाना प्रकार के घटों में मृत्तिका तथा बर्फ में जल ओतप्रोत है, उसी प्रकार से नाना प्रकार के नामरूपात्मक समस्त चराचर जगत् में सच्चिदानन्द ओतप्रोत है। व्यापकता के लिये जो दूध में घृत का दृष्टान्त दिया जाता है, वह अनुभव एवं युक्ति के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि दूध में तीन वस्तुएँ प्रत्यक्षरूप से पृथक्-पृथक् देखने में आती हैं—दूध, घृत और जल। जिस समय दूध फट जाता है, तब दूध और जल पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। जब यन्त्र द्वारा मथ कर घृत (मक्खन) पृथक् कर लिया जाता है, तब दूध और जल शेष रह जाता है। इसलिये दूध में घृत व्यापक नहीं है, परिच्छिन्न है। अस्तु !

जब कि ईश्वर तत्त्व प्रत्येक देश, काल एवं वस्तु में ओतप्रोत तथा विद्यमान है, तब क्या मेरे शरीर, मन, बुद्धि, प्राण इत्यादि में भी वही सर्वशक्तिमान ईश्वर व्याप्त नहीं है ? ऐसा विचार करने से बाध्य होकर मानना पड़ेगा कि अवश्यमेव वही सच्चिदानन्द-सत्ता ओतप्रोत है। इसका तात्पर्य यह निकला कि जो ईश्वर इन शरीरादि में सच्चिदानन्द रूप से विद्यमान है, वही 'अहं' रूप से 'आत्मा' अर्थात् सबका 'अपना आपा' है। साथ-ही-साथ इस बात का भी विचार करना है कि यही सच्चिदानन्द सत्ता सारे चराचर जगत् का भी अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण व आत्मा है।

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कथन-चिन्तन में तो आती हो, परन्तु उसके भावरूप (अस्तित्व) को सिद्ध करने के

लिए उसके पीछे 'है' शब्द न लगता हो। जब किसी भी वस्तु के अस्तित्व अर्थात् भाव (होने) का कथन किया जाता है, तब उसके साथ 'है' शब्द जोड़ते हैं। यहाँ तक कि जब 'नास्ति' (नहीं है) अर्थात् अभाव का भी कथन करना होता है, तब भी कहते हैं कि 'नहीं है'। यह 'है' शब्द किसका सूचक है जिसके बिना किसी के भी भाव अथवा अभाव की सिद्धि ही नहीं होती? यह 'है' शब्द उसी त्रिकालाबाध्य 'सत्' का सूचक है जो कि सब का 'उपादान' रूप है। इस 'सत्' को त्रिकालाबाध्य, सब में ओतप्रोत 'भावरूप' जाना किसने? ज्ञान (चेतन शक्ति) ने ही सबको प्रकाशित किया अर्थात् जाना। इससे यह बात सिद्ध हुई कि वही भावरूप 'सत्' ही चित् (ज्ञान) स्वरूप भी है।

जब वही सच्चित्सत्ता प्रत्येक देश, काल, वस्तु में पूर्ण है, तब फिर जड़ तत्व एवं दुःख कहाँ रह सकते हैं? एक ही देश-काल में दो विरोधी वस्तुओं की स्थिति नहीं हो सकती, जिस प्रकार से एक ही देश-काल-वस्तु में विशेष रूप अग्नि और जल इकट्ठे नहीं रह सकते। सामान्य रूप में दोनों तत्त्व एक ही हैं। निमित्त कारण तथा उपादान कारण,—ये दोनों सत्ताएँ वास्तव में स्वरूप से दो भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। क्योंकि यदि निमित्त कारण को उपादान कारण एवं कार्य से भिन्न माना जायगा तो वह कभी कार्य में व्यापक नहीं हो सकेगा, जैसे कि भूषणों एवं घटों में, केवल निमित्त कारण होने से, स्वर्णकार एवं कुम्भकार व्यापक नहीं हैं,—परिच्छिन्न तथा एकदेशी हैं।

जिस प्रकार से स्वप्न-जगत् का निमित्त व उपादान दोनों कारण, केवल स्वप्नद्रष्टा स्वयं ही है, उस द्रष्टा से भिन्न स्वप्न में और कुछ भी नहीं होता, स्वयं ही सर्वरूप होता है। यद्यपि अपने आपे से भिन्न नामरूप की प्रतीति अवश्य होती है, परन्तु होता है केवल स्वयंमात्र ही। इसी प्रकार से चेतन आत्मा ही सर्वरूप है। यहां समझना केवल इसी बात को है कि जिसको लोग प्रकृति (जड़ तत्व) कहकर चेतन तत्व से भिन्न मानते हैं, वह चेतन की निर्विशेष-भावरूप सत्ता ही है। जिसको 'सत्' कहते हैं, वही जड़ प्रकृति है। एक रूप होने से, उस जड़ और चेतन में परस्पर कोई विरोध नहीं है, केवल नाम का अन्तर है। सत्ता रूप से दोनों तत्त्व एक ही हैं। यदि कहो कि फिर जड़ सृष्टि की प्रतीति क्यों हो रही है ? तो उत्तर है कि 'स्वप्न सृष्टिवत्' सब कुछ अपना आपा ही है।

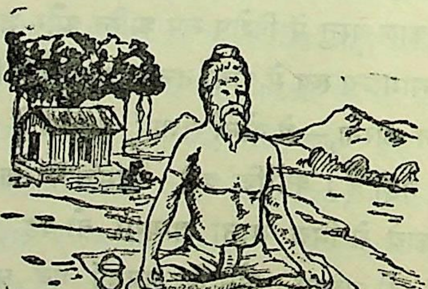

मैं कौन हूँ ?

—⁘—

अब दूसरे प्रकार से 'आनन्दस्वरूप' आत्मा का प्रत्यक्ष कराया जाता है। जिस प्रकार मन्थन के द्वारा दूध से घृत पृथक् कर लिया जाता है, उसी प्रकार शरीर, मन, बुद्धि, प्राण और समस्त संसार से पृथक् करके अपने आपे का अनुभव कराया जायगा। प्रथम सारे संसार से पृथक् और पश्चात् सब से अभिन्न अनुभव कराया जायगा।

अब यहाँ सुगमतापूर्वक समझाने के लिये एक 'गुर' बताया जाता है। 'गुर' कहते हैं किसी कठिन समस्या को सुगमतापूर्वक समझने के लिए सुगमातिसुगम उपाय को। जैसे,—जितने रुपये की कोई चीज़ जितने सेर मिलती है, उतनें ही आने की वह चीज़ उतने ही छटाँक मिलेगी। इसी प्रकार से जिस वस्तु के साथ 'मेरा' शब्द जोड़ा जाता है, वह वस्तु कथन करने वाले के 'मैं' से पृथक् हो जाया करती है अर्थात् अपने आपे से (आत्मा) 'मेरा' शब्द और उससे सम्बन्ध रखने वाली वस्तु सर्वथा भिन्न ही रहेगी,—जिस प्रकार से सूखा काष्ठ हर प्रकार से जल के ऊपर ही तैरता रहता है।

अब आइये, विचार करके देखें कि यह 'मेरा' शब्द किन-किन

वस्तुओं के साथ, कहाँ तक जुड़ता जाता है। प्रथम बाह्य सांसारिक पदार्थों का विचार करते हैं। प्रायः लोग कहा करते हैं कि 'मेरा मकान', 'मेरी घड़ी', 'मेरी टोपी'—इत्यादि। इन कथनों का तात्पर्य यह निकला कि कथन करने वाला इन वस्तुओं का स्वामी (मालिक) है, न कि स्वयं ही वह वस्तु ? जैसे 'मकान' वह स्वयं नहीं है, किन्तु मकान का स्वामी अपने मकान से पृथक् है। इसी प्रकार से 'मेरा पुत्र', 'मेरी स्त्री', 'मेरा कुटुम्ब-परिवार' इत्यादि का भी यही तात्पर्य निकलता है कि वह स्वयं स्त्री, पुत्रादि नहीं है, किन्तु स्त्री-पुत्रादि का सम्बन्धी है तथा उनसे भिन्न है।

बाहर की वस्तुओं से तो यह पता लग गया कि 'मैं' स्वयं ये सब वस्तुएं नहीं हूँ,—इनसे भिन्न हूँ। अब आइये, देखें कि जिन शरीर, मन, प्राण इत्यादि को हम अपना आत्मा ही मानते हैं, उनके साथ भी क्या यह 'मेरा' शब्द जुड़ सकेगा ? यहाँ भी वही नियम देखने में आता है। प्रायः हम लोग कहा करते हैं कि मेरा हाथ, मेरे पैर, मेरा शिर, मेरा शरीर, मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरे प्राण इत्यादि। इससे यही सिद्ध होता है कि मैं स्वयं ये सब संघात नहीं हूं वरन् इन संघातों का स्वामी (मालिक) हूँ और इन सबसे भिन्न, इन का द्रष्टा हूं।

अब यहाँ तक तो पता लग गया कि 'मैं स्वयं' आत्मा (अपना आपा) इन सब मन, प्राण आदि अन्तरङ्ग तथा शरीरादि बहिरङ्ग सारे संघातों से भिन्न ही है। किसी भी व्यक्ति से यदि यह प्रश्न किया जाय कि तुम कौन हो ?—तो इसका प्रारम्भिक

उत्तर यही हुआ करता है कि 'मैं हूँ'। इस 'मैं' को छोड़कर शेष सारी वस्तुओं के साथ 'मेरा' शब्द जुड़ सकता है। यह कोई भी नहीं कहता कि मेरा 'मैं'। किसी को समझाने के लिये भले ही 'मेरा आत्मा' कह दिया जाय, किन्तु और वस्तुओं के सदृश 'मैं' के साथ 'मेरा' शब्द नहीं जुड़ता। एक बड़ी ही रहस्ययुक्त एवं विचारणीय बात यह भी है कि इस 'मेरे' शब्द का प्रादुर्भाव कहाँ से होता है ? अपने शरीर से लेकर सारे चराचर विश्व के साथ, किसी-न-किसी प्रकार समष्टि रूप से, अत्यन्त निकटवर्ती सम्बन्ध कराने वाले इस 'मेरे' शब्द का सबके अपने 'मैं' से ही प्रादुर्भाव होता है। जैसे जल से तरङ्ग का प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार 'मैं' से 'मेरे' शब्द का प्रादुर्भाव होता है। 'मैं' सब जगत का निमित्त कारण है तथा 'मेरा' उपादान कारण है। चेतन और संकल्प की तरह 'मेरा' शब्द का 'मैं' शब्द के साथ अभेद संबंध है। 'मेरा' शब्द प्रकृति का वाचक है तथा 'मैं' शब्द पुरुष (चेतन आत्मा) का वाचक है। अस्तु !

अपने 'मैं' शब्द के अस्तित्व का तो पता लग गया कि 'मैं हूं', परन्तु इस बात का पता नहीं लगा कि 'मैं कौन हूँ ?' इस बात को स्पष्ट करने के लिये यह विचार किया जाता है कि जिस प्रकार से प्रकाश और नेत्रों के द्वारा प्रत्येक वस्तु को देख सकते हैं,—उसी प्रकार से ज्ञान व बुद्धि के द्वारा प्रत्येक वस्तु को जान सकते हैं। फिर तो यहाँ पर शरीर, मन, बुद्धि, स्त्री, पुत्र इत्यादि शारीरिक व सांसारिक समस्त पदार्थों को जाना गया। परन्तु

किसके द्वारा जाना गया ?—उसी ज्ञान तथा बुद्धि के द्वारा ! अब फिर मैं प्रश्न करूँगा कि 'वह कौन है जो इन सब संघातों को जान चुका या जानता है ?' फिर वही उत्तर आयेगा कि 'मैंने जाना'। यहां यह बात स्पष्ट सिद्ध हो गई कि 'अपने आपे' से लेकर सारे संसार का जानने वाला 'मैं' ज्ञान स्वरूप चेतन है। इस बात के साथ-साथ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि जिस प्रकार से नेत्र (दृष्टि शक्ति) भी प्रकाश (सूर्य) का ही एक रूप है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं, इसी प्रकार से बुद्धि भी इस चेतन (ज्ञान शक्ति) का स्वरूप ही है, प्रकाश और सूर्य की भाँति किञ्चित् भी भिन्न नहीं है।

अब इस बात का विचार करना है कि समस्त चराचर जगत् के प्राणीमात्र का आत्मा एक ही है या भिन्न-भिन्न नाना चेतन हैं ? जिस प्रकार किसी नगर में या संसार भर के सारे नगरों में जितने भी विद्युत के बल्ब (लट्टू) प्रकाशित हो रहे हैं,—कोई तो ५ वाट का है, कोई १० वाट का अर्थात् विभिन्न हजारों वाट तक के हैं तथा कोई लाल, कोई हरा, नीला, पीला इत्यादि विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे हैं। जिस रंग तथा वाट (शक्ति) का बल्ब है, उसी रंग में रंगा हुआ, उतना ही मन्द या तेज प्रकाश तो अवश्य दृष्टि में आ रहा है, किन्तु सब प्रकार के बल्बों में विद्युच्छक्ति तो एक ही प्रकाशित हो रही है। केवल दीखने में भिन्नता एवं विषमता है। इसी प्रकार से कीट से लेकर मनुष्य पर्यन्त में चेतन (ज्ञानस्वरूप आत्मा) एक ही है। समस्त प्राणीमात्र के सारे शरीरों में एक ही

'मैं' अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा विद्यच्छक्तिवत् नाना प्रकार से प्रकाशित हो रहा है ।

आत्मा के अज्ञान से ही भिन्नता की प्रतीति हो रही है । यदि बल्ब की दृष्टि से देखा जाय तो भी समस्त विश्व के जितने भी बल्ब हैं, वे सब के सब कांच के ही हैं । इसी प्रकार से यदि शरीरों की दृष्टि से देखा जाय, तो भी समस्त प्राणीमात्र के शरीर पांच-भौतिक ही हैं । इन युक्तियों से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो गई कि ईश्वर, खुदा, गॉड, सर्वशक्तिमान् , सृष्टिकर्ता को जगत् और अपने आपे से भिन्न मानकर, प्राणीमात्र के आत्मा एवं शरीरों को परस्पर भिन्न मानकर तथा नाना प्रकार का भेद मानकर वाद-विवाद या संघर्ष करते रहना नितान्त बालक्रीड़ावत् अभिनय है । इसी पर एक दृष्टान्त दिया जाता है—

दृष्टान्तः—एक राजा के पांच पुत्र थे । पांचों ही पिता के बड़े भक्त थे । एक दिन सब पुत्र पिता के पास गये और सेवा के लिये प्रार्थना की । पिता ने पूछा—'तुम लोग क्या सेवा करना चाहते हो ?' पुत्रों ने उत्तर दिया—'हम नित्यप्रति आपका शरीर दबाया करेंगे ।' पिता सेवा स्वीकार करने पलंग पर लेट गया । पांचों पुत्रों ने पिता का एक-एक अङ्ग परस्पर बांट लिया अर्थात् दोनों हाथ, पैर व शिर में से एक-एक ने एक-एक अङ्ग को दबाना आरंभ कर दिया । दैवयोग से पिता ने बड़े आनन्द में आकर अपना एक हाथ अपने शिर पर रख लिया तो शिर दबाने वाले पुत्र ने एक डण्डा खींचकर उस हाथ पर दे मारा और हाथ दबाने वाले

भाई से कहा—'हमारे शिर पर तुम ने अपना हाथ क्यों रखा ?' तुरन्त ही हाथ दबाने वाले ने शिर पर एक डण्डा खींच कर मारा और उत्तर दिया—'तो तुमने हमारे हाथ को मारा क्यों ?' पिता कष्ट के मारे दूसरे हाथ से, जिसमें चोट नहीं लगी थी, चोट लगे हाथ और शिर को मलने लगा तो दोनों ने ही एक-एक डण्डा उस हाथ पर भी दे मारा। पिता को इससे बहुत ही कष्ट हुआ तो वह एक पैर को दूसरे पैर के ऊपर रखकर तड़पने लगा। झट पैर वाले सेवकों ने भी एक-दूसरे के पैरों को तोड़ना आरम्भ कर दिया। पिता पीड़ा से तड़फ रहा है तो कोई बात नहीं, परन्तु हिस्से के विभाजन तथा उसके प्रति ममता में कोई अन्तर नहीं पड़ना चाहिये।

ठीक यही दशा नाना प्रकार के ईश्वरवादी भक्तों की है। धर्म व ईश्वर के नाम पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, सनातनी, समाजी, सिख, शैव, वैष्णव इत्यादि परस्पर में कट-कट कर मर रहे हैं, एक दूसरे को कोस रहे हैं और एक-दूसरे की त्रुटियाँ निकाल रहे हैं। ईश्वर के अङ्गभूत सारे मनुष्य या प्राणीमात्र एक-दूसरे के द्वारा पीड़ित किये जा रहे हैं, इस की कोई चिन्ता नहीं, परन्तु नाना प्रकार के कपोल-कल्पित पक्षपातों में अन्तर नहीं पड़ना चाहिये।

उपरोक्त विचार से यह सिद्धान्त निकलता है कि सब के 'मैं' का वास्तविक स्वरूप सत्-चित्-आनन्द, अद्वितीय, सर्वरूप है।

ज्ञान का वास्तविक स्वरूप

ज्ञान वास्तव में कोई होने वाला तत्त्व नहीं है जो प्रथम न होता हो औरपश्चात् किसी साधन के द्वारा उत्पन्न हो जाता हो। सामान्य (कारण) रूप से ज्ञान प्रत्येक देश-काल में विद्यमान रहता ही है। केवल 'वृत्तिज्ञान' ही घटता-बढ़ता, उत्पन्न-नष्ट होता-सा दृष्टि या अनुभव में आता है। विचार तो इस बात का करना है कि ज्ञान के घटने-बढ़ने या उत्पत्ति-नाश को अनुभव कौन करता है? जो अनुभव करता है, वही तो वास्तव में ज्ञान है। जिस वस्तु को अनुभव करता है, वही दृश्य है और जिसके द्वारा अनुभव करता है, वह वृत्ति है। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि बन्धन-मोक्ष, ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, जीव-ईश्वर इत्यादि जो कुछ भी जानने (अनुभव) में आता है,—सब ज्ञानसत्ता से पृथक्, उसका दृश्य, वृत्तिरूप है और जानने वाला (ज्ञाता) ही ज्ञानशक्ति अर्थात् चेतन सत्ता है।

इस दृष्टिकोण से 'ज्ञानसत्ता' किसी दूसरी वस्तु का विषय दृश्य कभी नहीं हो सकती। जिस प्रकार से सूर्य के द्वारा तो हर-एक वस्तु देखी जाती है किन्तु, सूर्य को किसके द्वारा देखते हैं? आप कह देंगे कि 'नेत्र के द्वारा'। किन्तु नेत्र में देखने के लिये

ज्योति कौन-सी काम कर रही है ? उसी सूर्य का प्रकाश ही यहाँ नेत्रों में भी दृष्टि का काम कर रहा है। जिस प्रकार से किसी दीपक, लैनटर्न, गैस वा टार्च इत्यादि के द्वारा सूर्य को नहीं देखा जाता, क्योंकि वह स्वयं ही अपने को दिखाने में प्रमाण है। अन्य जितने भी संसार के अन्तर्गत प्रकाश के साधन हैं, उनमें भी वही सूर्य प्रकाश के रूप में प्रकट होता है। तात्पर्य यह है कि सूर्य, विद्युत, अग्नि इत्यादि सब स्वरूप से एक ही हैं। इसी प्रकार से ज्ञानशक्ति (चेतन आत्मा) के ही द्वारा हर एक चराचर वस्तु देखने व जानने में आ रही है और वह चेतन शक्ति स्वयं को जानने के लिये भी आप ही प्रमाण है। उसे अपने से भिन्न किसी (वृत्ति आदि) प्रमाण की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह स्वयं ही 'स्वसंवेद्य' ('स्व'=अपने द्वारा, 'संवेद्य'=जानने योग्य) है।

जिसे अज्ञान कहा जाता है, वह भी संसार की अन्य वस्तुओं की भाँति देखा गया है। परन्तु अज्ञान को देखा किसने ? बाध्य होकर यही कहना पड़ेगा कि ज्ञान शक्ति (चेतन शक्ति) ने ही अज्ञान को भी देखा। इससे स्पष्ट है कि अज्ञान कोई स्वतःसिद्ध पदार्थ नहीं है जिससे कोई युद्ध या संघर्ष करना है। किसी भी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ठीक-ठीक न जानने का नाम ही 'अज्ञान' है जिसे आप भ्रान्ति भी कह सकते हैं। उसी वस्तु के ठीक-ठीक यथार्थ स्वरूप को जान लेना ही 'ज्ञान होना' कहा गया है। अपने आपे (चेतन स्वरूप आत्मा) को जन्मने-मरने वाला, कर्ता-भोक्ता, बंधा हुआ व अज्ञानी आदि मानना ही 'अज्ञान'

कहलाता है। इसके विपरीत, अपनें आपको चेतन या ज्ञानस्वरूप, नित्यमुक्त, अजर-अमर, अविनाशी मान (जान) लेना ही ज्ञान कहलाता है।

अपने आपको अजर, अमर, अविनाशी आदि न जानने से भी कोई हानि नहीं तथा जान लेने से कोई लाभ भी नहीं,—क्योंकि सूर्य को आप सूर्य मान लें तो भी वह सूर्य ही रहेगा और यदि उसे निशाचरों की भाँति अन्धकार ही मान लें, तो भी वह सूर्य ही रहता है। इन दोनों परिस्थितियों में सूर्य (प्रकाश) में किंचिन्मात्र कोई भी अन्तर नहीं पड़ सकता। इसी प्रकार से चेतन आत्मा के स्वरूप में ज्ञान, अज्ञान, बन्धन, मोक्ष, जन्म, मृत्यु इत्यादि से किंचित् भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। हाँ, वास्तविकता को समझ लेने से इतना अवश्य हो जाता है कि उसका सारा जीवन निर्भयता पूर्वक, संशय-रहित व्यतीत हो जाता है। इसे न समझने से यह मन पग-पग पर चिन्ता व शोकसागर में गोते खाता रहता है।

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में कोई मनुष्य किसी भयानक निर्जन वन में रास्ता भूल गया हो तथा हिंसक पशुओं के भय से बहुत ही व्याकुल हो रहा हो, उस समय यदि उसे यह ज्ञान हो जाय कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ, तब तो उसी समय से, जब तक वह स्वप्न की दशा में रहेगा उतने समय के लिये, वह बिल्कुल निर्भय व निश्चिन्त हो जायगा। यदि साधारण लोगों की भांति उसे स्वप्न का ज्ञान न भी हुआ, तो भी वह जागने पर तो स्वप्न

के क्लेशों से मुक्त हो ही जायगा, क्योंकि कोई भी व्यक्ति आयु-पर्यन्त स्वप्न की ही स्थिति में तो रहता नहीं। घन्टे-दो-घन्टे के पश्चात् जग ही जायगा। यदि उसी वन में कहीं से कोई सिंह निकल पड़े फिर तो उसके जागने में कोई बिलम्ब ही नहीं होगा। इसीलिये माण्डूक्य-उपनिषद् की कारिका में श्रीगौड़-पादाचार्य जी ने कहा है कि—

न निरोधो न चोत्पत्ति र्नबद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षु र्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता॥

अर्थात् न तो कोई बंधा हुआ है, न कोई मुक्त है, इसलिये वृत्तियों के निरोध व साधन की भी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि कोई साधक ही नहीं। जिस जगत् को देखकर घबड़ा रहे हो, वह भी ब्रह्मरूप ही है। पूर्ण रूप से इस प्रकार का निश्चय ही परमार्थ का स्वरूप है।

इन्हीं बातों को स्पष्ट करने के लिये उपन्यास के रूप में एक दृष्टान्त दिया जाता है—

दृष्टान्तः—लखनऊ राजकीय विश्वविद्यालय में मिस्टर प्रकाश नारायण एम० ए०, साइन्स (विज्ञान) फिलॉसफ़ी के प्रोफेसर थे। प्रोफेसर साहब आंग्लभाषा के धुरन्धर विद्वान्, पाश्चात्य एवं बौद्ध दर्शन शास्त्रों के अधिक स्वाध्यायी तथा भारतीय दर्शनों के प्रबल उपेक्षक होने के कारण अत्यन्त नास्तिक, पूरे चार्वाक हो चुके थे। उनका कहना था कि चेतन शक्ति को जड़ प्रकृति से पृथक एक दूसरी स्वतन्त्र वस्तु मानना बुद्धिहीनता है। जिस प्रकार गुड़,

गेहूँ, बबूल का छिलका इत्यादि को पानी में सड़ाकर शराब निकालने से उसमें 'नशा' नाम की एक नई वस्तु उत्पन्न हो जाया करती है, उसी प्रकार जिस स्थान में हड्डी, मांस, रक्त, त्वचा, नाड़ी व प्राण इत्यादि का संघात होता है, उसे शरीर के नाम से कहने लग जाते हैं और उसी शरीर में, शराब में नशे के समान, एक नई वस्तु—'ज्ञान'—उत्पन्न हो जाया करती है जिसे आस्तिक लोग आत्मा के नाम से कथन करते हैं। ज्ञान या आत्मा शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है तथा शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाया करता है। फिर पता नहीं लगता कि वह कहाँ से आया था और किस जहन्नुम को चला गया? इसलिये शरीर से पृथक किसी दूसरी ज्ञानशक्ति या आत्मा को मानना महान मूर्खता का द्योतक है। प्रोफेसर साहब अपने सब मिलने-मिलाने वाले मित्रगणों से ऐसा ही कहा करते थे।

उनके मित्रों में से एक साधारण पठित भगत देवीदास बड़ी ही सरल प्रकृति के सज्जन व्यक्ति थे। वे प्रोफेसर साहब को इसका यही उत्तर दिया करते थे—'भाई प्रकाशनारायण, आपने भारतीय दर्शन कभी देखे नहीं हैं, तभी आप इतनी डींग मार रहे हैं। यदि आप एक बार भी अपने घर के शास्त्र देख लेते तो फिर आपकी ऐसी नास्तिक बुद्धि न रहती।'

इस उत्तर को सुनकर प्रोफेसर साहब अपने मित्र की बात को हँसी में उड़ा दिया करते थे। अन्त में देवीदास यही कहकर चुप हो जाया करते थे कि भाई प्रकाशनारायण, मैं तो कोई विद्वान्

नहीं हूँ; परन्तु आप शास्त्रज्ञ विद्वानों के समक्ष एक क्षण भी नहीं ठहर सकते। यह बात सुनकर प्रोफेसर साहब उछल पड़ते और कहते कि संस्कृत के विद्वानों में ऐसी योग्यता व बुद्धि कहाँ जो मुझ से बात भी कर सकें?

एक दिन एक पंडित जी प्रोफेसर साहब की ये बातें सुन रहे थे। उन्होंने प्रोफेसर साहब से कहा कि आपका इस प्रकार अभिमान करना बिलकुल व्यर्थ है। यदि आप में इतना साहस है कि आप दार्शनिक विद्वानों का मुकाबला कर सकें तो चलिये, मैं आपको एक महात्मा के पास ले चलूं; वहाँ आप अपने जौहर दिखलाइये। इतना सुनते ही प्रोफेसर साहब ने छाती पर हाथ मारकर कहा कि चलिये! अभी चलिये!

पंडित जी ने कहा कि अभी तो महात्मा जी नहीं मिलेंगे। यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो भोजनोपरान्त लगभग २ बजे उनके पास चलेंगे।

इसके बाद सब लोग अपने-अपने घर भोजन करने चले गये। प्रोफेसर साहब ने भी अपने घर जाकर भोजन किया और घर के बाहर ही, दीवाल के सहारे एक चारपाई पर हुक्का पीने लेट गये। हुक्का पीते-पीते उन्हें तन्द्रा ने घर दबाया और नींद-सी आने लगी। इतने में प्रोफेसर साहब देखते क्या हैं कि उनके मित्र देवीदास और पण्डित जी उनके सामने खड़े कह रहे हैं— 'चलिये प्रोफेसर साहब, अब महात्मा जी के पास चलें!'

…और तब तीनों ने महात्मा जी की कुटिया के लिए प्रस्थान

किया। जिस वाटिका में महात्मा जी ठहरे हुए थे, वह बड़ी ही रमणीक थी। बाहर ही एक वृक्ष के नीचे महात्मा जी बैठे हुए थे। इन लोगों के पहुँचने पर महात्मा जी ने प्रेमपूर्वक इन्हें बिठाया।

पण्डित जी ने महात्मा जी से कहा—'देखिये महाराज! आजकल के इंगलिश के विद्वान 'आत्मा' (चेतनसत्ता) को नहीं मानते। इन लोगों का कहना है कि आत्मा नाम की कोई वस्तु मानना ही बुद्धि-हीनता है ?'

महात्मा जी ने पूछा—'क्यों प्रोफेसर साहब, क्या बात है ?'

प्रोफेसर ने उत्तर दिया—'हाँ महाराज, आत्मा नाम की कोई वस्तु हो तो मानने की भी आवश्यकता है। जहां युक्ति व अनुभव कीकसौटी पर कसा गया कि आत्मा समाप्त हो जाता है। फिर नहीं पता लगता कि वह किस जहन्नुम को गया।'

महात्मा जी हंसते हुए कहने लगे—'हाँ, तुम्हारे और भी भाई मेरे साथ शास्त्रार्थ करने के लिये आये थे। जिसे देखा, पूरा नास्तिक ही देखा। क्या आप लोगों को आध्यात्मिक शिक्षा ही नहीं दी जाती ?'

प्रोफेसर साहब बोले—'मैंने तो आप से प्रथम ही कह दिया कि जब आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं तो फिर उसकी शिक्षा की ही क्या आवश्यकता ?'

महात्मा जी—अच्छा, तो क्या आप लोगों के मत में शरीर व आत्मा में कोई अन्तर ही नहीं ?

प्रोफेसर—हाँ, महाराज! वह तो शरीर का अंशमात्र है।

जिस प्रकार से बहुत सी वस्तुओं को सड़ाकर मदिरा निकाल लेने से उसमें एक नई वस्तु 'नशा' उत्पन्न हो जाया करती है, उसी प्रकार जहाँ शरीर, प्राण व इन्द्रियों का संयोग होता है, वहीं मदिरा में नशावत् ज्ञानशक्ति उत्पन्न हो जाया करती है। उसी को आप लोग आत्मा नाम से कहा करते हैं।

महात्मा—अच्छा, तो ज्ञान शरीर से उत्पन्न होता है?

प्रोफेसर—अवश्यमेव।

महात्मा ने कहा—भाई, आप मेरी इतनी बात तो अवश्य मानोगे कि जो बात कारण में होती है, वही कार्य में भी होगी,—जैसे कि लोहे से जो वस्तु बनती है, वह लोहा ही रहती है, परिवर्तित होकर आम, गुड़, रोटी, मिठाई इत्यादि तो नहीं बन जाया करती?

प्रोफेसर ने उत्तर दिया—अवश्यमेव,—आपकी यह बात सच्ची है।

महात्मा ने आगे कहा—जब आप यह बात मानते हैं कि मनुष्य में जो ज्ञान है वह शरीर से उत्पन्न हुआ है, तब आपको यह बात भी अवश्य माननी पड़ेगी कि जिन खाद्य पदार्थों से शरीर बनता है, उनमें भी ज्ञानशक्ति विद्यमान होती है, क्योंकि यदि इन खाद्य पदार्थों में ज्ञान न हो तो भला फिर वह शरीर में कहाँ से आवे? यहाँ शरीर कार्य है और भोजन कारण है, क्योंकि जगत में ऐसा देखा जाता है कि जितने भी मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि प्राणियों के शरीर हैं, वे सब खाद्य पदार्थों से ही बनते

हैं। क्या आप देख नहीं रहे हैं कि यह मनुष्य अन्न, फल, फूल, मेवे, मांस, मछली, अण्डे इत्यादि खाता है, इन्हीं को खाकर इसका शरीर बनता है तथा इस शरीर से ही ज्ञानशक्ति उत्पन्न होती है ? यदि इन खाद्य पदार्थों में ज्ञानशक्ति न होती तो भला इन शरीरों में वह कहाँ से आती ? यदि ज्ञानशक्ति बनेगी तो इन्हीं खाद्य पदार्थों से बनेगी, और ज्ञानशक्ति आई कहाँ से ? अभाव से तो कोई भावरूप वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। आप तो विद्वान व बुद्धिमान हैं, सोच-विचार कर बात कीजिये।

प्रोफेसर—महाराज, आपकी बात बिल्कुल यथार्थ है। यदि इन खाद्य पदार्थों में ज्ञानशक्ति न होती तो मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि के शरीरों में जो ज्ञानशक्ति देखने में आ रही है, वह कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिये प्रत्येक पदार्थ में ज्ञान-शक्ति विद्यमान है।

महात्मा जी—लो भाई, पहले तो आप केवल जड़ प्रकृति को ही मानते थे, अब आपने एक दूसरी चेतनशक्ति भी मान ली।

प्रोफेसर साहब बोले—शक्ति के मानने में तो मुझे प्रथम भी कोई इन्कार नहीं था और अब भी नहीं है, किन्तु आप जिसे चेतनशक्ति कह रहे हैं वह तो प्रकृति का ही एक अंश है।

महात्मा जी यह बात सुनकर जोर से हंसने लगे और बोले-वाह भाई, आप तो जड़ प्रकृति की परिभाषा ऐसे कर रहे हैं कि जड़ वह तत्व है जिसमें चेतनशक्ति हो। आपकी यह परिभाषा तो संग्रहालय में रखने योग्य है।

प्रोफेसर ने उत्तर दिया—महाराज, 'चेतन' आप अपनी ओर से न बढ़ाइये। मैंने केवल शक्ति कहा है।

महात्मा मुस्कराकर बोले कि चेतनशक्ति को तो आप भी प्रकृति का एक अंश मान रहे हैं! तो मेरी मानी हुई चेतनशक्ति में और आपकी मानी हुई ज्ञानशक्ति में क्या अन्तर है? यदि इन जड़ शरीरों में केवल क्रियाशक्ति को ही काम करने वाली मानोगे तो जगत में जो ज्ञानपूर्वक प्रबन्ध हो रहा है, वह आपके मत में कैसे हो सकेगा?—और प्रबन्ध भी कैसा?—बहुत ही सुन्दर! फिर तो इन जड़ शरीरों में जड़ शक्तियाँ ही काम करती हुई दृष्टि में आवेंगी। कोई शरीर को इधर ढकेलकर ले जावेगी तो कोई उधर! फिर तो आप मेरे साथ शास्त्रार्थ करने न आकर किसी दीवार या वृक्ष से ही टकराकर वहीं पड़े रहते। ऐसी दशा में सारे संसार में किसी प्रकार का नियन्त्रण ही नहीं रह सकेगा। इसलिये शरीरों में काम करने वाली शक्ति अवश्यमेव चेतन ही माननी पड़ेगी।

तब प्रोफेसर बोले—कोई बात नहीं, दो वस्तुएँ मान लेता हूँ, एक जड़ तत्व प्रकृति और दूसरा चेतन तत्व पुरुष। किन्तु दोनों को नित्य मानना पड़ेगा। आपका वेदान्त तो केवल चेतन को ही नित्य मानता है, शरीर व संसार को अनित्य (मिथ्या) बतलाता है। इसी को आप ज्ञान होना कहते हैं। यह बात कैसे सम्भव हो सकती है?

महात्मा ने उत्तर दिया—कोई बात नहीं, प्रथम आप केवल

जड़ प्रकृति को ही मानते थे। अब एक दूसरे चेतन तत्व को भी मानने लगे हैं। आपके लक्षण अच्छे हैं। अच्छा, जब आपने चेतन शक्ति भी मान ली है, तब यह बात भी आपको अवश्य माननी पड़ेगी कि जिसे आपने जड़ प्रकृति माना है, उसका ज्ञान इस चेतन शक्ति को ही होगा।

प्रोफेसर—अवश्य होगा।

महात्मा जी—जब आप ज्ञान होना मानते हैं, तब जिन-जिन जड़ पदार्थों का ज्ञान होगा, वह अवश्यमेव इसी प्रकार से होगा जैसे कि स्वप्न के पदार्थों का होता है। ज्ञान होने का अन्य कोई प्रकार ही नहीं। स्वप्न आप नित्यंप्रति देखते हैं—हाथी सामने खड़ा है, तत्क्षण घोड़ा बन गया। फिर देखते ही देखते घोड़े से मनुष्य बन गया, तब क्षणमात्र में मनुष्य से वृक्ष बन गया। भला, यह जो स्वप्न के पदार्थ क्षण-क्षण में बनते व बिगड़ते रहते हैं,—ये सत् हैं या असत् ?

प्रोफेसर—हाँ, ये बातें अवश्यमेव असत् हैं। किन्तु जाग्रत में तो ऐसा नहीं है कि एक वस्तु हटी और उसके स्थान पर झट दूसरी वस्तु उत्पन्न हो गई ?

महात्मा—है क्यों नहीं ? क्या आप जाग्रत अवस्था में वस्तुओं को उत्पन्न होती नहीं देखते ? स्त्री के उदर से बच्चा पैदा होता है। बीज से वृक्ष, वृक्ष की लकड़ी से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। अग्नि में आटा पककर रोटी बन जाती है। देखिये, ये सब मदारी के खेल की भांति (मिथ्या) हैं या नहीं ? कहाँ बीज और

कहाँ वृक्ष ? इसी प्रकार से और भी वस्तुओं का अनुमान कर लेना चाहिये। बड़े आश्चर्य की बात है कि यह सांसारिक पदार्थ आपको स्वप्न की भांति परिवर्तनशील, क्षणभंगुर दृष्ट नहीं हो रहे हैं।

प्रोफेसर—महाराज, स्वप्न के पदार्थ तो केवल कल्पनामात्र हैं और बिना ही कारण एवं देश-काल के क्षण-क्षण में बदलते हुए दृष्टि में आते हैं। परन्तु जाग्रत अवस्था के पदार्थों में तो ऐसा नहीं दीखता। यहां तो जब तक किसी भी पदार्थ के बनने के कारण और देश-काल सहित साधन न हों, तब तक कोई भी वस्तु उत्पन्न ही नहीं हो सकती। जाग्रत अवस्था में हाथी का घोड़ा बनते किसने देखा है ?

महात्मा ने पूछा—अच्छा भाई, जाग्रत अवस्था में वस्तुओं का उत्पन्न होना तो मानते हो ?

प्रोफेसर—अवश्य, किन्तु इसी प्रकार मानता हूं जैसे बीज विशेष रूप से देश-काल एवं नाना प्रकार के साधनों की सहायता से कालान्तर में जाकर वृक्ष बनता है।

महात्मा जी—उत्पन्न होने का तात्पर्य तो वही होगा जो स्वप्न के पदार्थों का होता है। क्या स्वप्न के पदार्थ, जो देखने में आते हैं, वे बिना देश-काल, साधन (कारण) के ही देखने में आते हैं ? स्वप्न काल में भी तो यही प्रतीत होता है कि समस्त सृष्टि ही कारण-युक्त है। इस बात का ज्ञान तो जागने पर होता है कि समस्त पदार्थ केवल कल्पनामात्र थे। दूसरी बात यह भी

है कि जिस प्रकार असत् से किसी सत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार सत् से भी कोई असत् वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। जहाँ भी किसी वस्तु की उत्पत्ति मानी गई है, वह केवल मदारी का खेल, माया का तमाशा और मन की करतूत ही मानी गई है। जब अभाव से कोई भावरूप वस्तु नहीं हो सकती और भाव पदार्थ से भी कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, तब प्रश्न होता है कि उत्पन्न हुई तो कहाँ से हुई ? इसका कोई उत्तर नहीं मिलता क्योंकि 'एकसत्तावाद' में प्रश्नोत्तर बन ही नहीं सकते। इसलिये जो वस्तु भावरूप है, उससे यह कहना कि 'अन्य वस्तु भावरूप हुई है'—यह एक ही शब्द को बार-बार दोहराना मात्र है, जो सर्वथा निरर्थक है।

प्रोफेसर तमक कर बोले—आपका कहना सरासर झूठ है। सत पदार्थ से और दूसरी वस्तु क्यों नहीं उत्पन्न हो सकती ? अवश्यमेव हो सकती है।

'झूठ' शब्द के प्रयोग से महात्मा को क्रोध आ गया। वे रोष भरे स्वर में बोले--अरे मूर्ख ! मुझे बतला कि जिस भाव पदार्थ को तू कहता है कि 'उत्पन्न हुआ', क्या वह पदार्थ उत्पन्न होने से प्रथम विद्यमान नहीं था ? यदि विद्यमान नहीं था तो अभाव से 'भाव' हुआ मानना पड़ेगा जो अत्यन्त असम्भव है। इसलिए जिस वस्तु को तू कहता है कि 'उत्पन्न हुई', यदि वह वस्तु उत्पन्न होने से प्रथम भी विद्यमान थी, तब उस भाव पदार्थ में से भाव पदार्थ का होना झूठ नहीं तो क्या तेरा सिर है ? तू

बड़ा मूर्ख है जो इतनी-सी साधारण बात भी नहीं समझ सकता !

प्रोफेसर साहब युक्ति से हारते जा रहे थे। उन्हें भी बड़ा क्रोध आ गया और वे गरज कर कहने लगे--मूर्ख तो तू है जो सच्चे जगत को भी झूठ सिद्ध कर रहा है। यह लट्ठी जो तेरे पास पड़ी है, इसे उठाकर यदि तू मेरे सिर पर मारे, तो क्या मेरा सिर नहीं फटेगा तथा मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा ?

ये शब्द प्रोफेसर ने ऐसे अपमान (तिरस्कार) पूर्वक कहे कि महात्मा के नेत्र क्रोध से लाल हो गये। वे बोले—अरे माया में फंसे हुए जीव ! तुझे इस बात का पता नहीं कि तू सच्चिदानन्द, शुद्ध, पूर्ण ब्रह्म है। एक तू ही सत् है, शेष सब असत् है अथवा तेरा स्वरूप ही है। न तो तुझे अग्नि जला सकती है, न वायु सुखा सकता है, न पानी गला सकता है और न शस्त्र काट सकते हैं। देख, यह लट्ठी मैं तेरे सिर पर मारता हूँ। इससे न तो तेरा सिर ही फटेगा और न तुझे किसी प्रकार का कष्ट ही होगा।

महात्मा ने वह लट्ठी उठाकर प्रोफेसर के सिर पर इतने ज़ोर से मारी कि लगते ही उसका सिर तरबूज़ की भांति चूर-चूर हो गया। इससे प्रोफेसर को इतना कष्ट हुआ कि अचानक चौंक पड़ा तो देखा कि वहाँ न कोई महात्मा है और न कोई बाग है। न सिर ही फटा है और न किसी प्रकार का कोई कष्ट ही है। हुक्का पीते-पीते ऊँघ आने लगी थी, सिर दीवार से टकराने

लगा था, इससे नींद खुल गई थी। हुक्के की नली महात्मा की लट्ठी प्रतीत हुई।

इतने में ही पंडित जी और प्रोफेसर साहब के मित्र देवीदास भी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने दोनों को संकेत से बैठने को कहा क्योंकि बोलने की शक्ति नहीं रही थी। आश्चर्य के समुद्र में डुबकी लगाते हुए प्रोफेसर साहब को उन दोनों ने देखा, किन्तु बार-बार कारण पूछने पर भी प्रोफेसर साहब कुछ बोल नहीं सके। कुछ समय के पश्चात् बहुत ही आग्रह करने पर उन्होंने स्वप्न का सारा वृत्तान्त सुनाया। तब तो पण्डित जी कहने लगे कि देखा, प्रोफेसर साहब! स्वप्न में ही महात्मा जी ने आपके छक्के छुड़ा दिये। यदि आप उनके सम्मुख पहुँच जायँ तब तो आज ही आपकी सारी नास्तिकता समाप्त कर देंगे।

प्रोफेसर ने कहा—बस, पंडित जी! अब मेरी सारी नास्तिकता समाप्त हो चुकी। अब मैं महात्मा जी के पास शास्त्रार्थ करने नहीं जाऊँगा। अब मुझे पूर्ण रूप से इस बात का ज्ञान हो गया कि एक चेतन सत्ता ही सर्व रूप में पूर्ण हो रही है। उसी से असंख्यों ब्रह्माण्डों का प्रादुर्भाव होता है जो उसी में स्थित रहते हैं तथा अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं। वही चेतन सत्ता सर्व का अपना आप ज्ञानस्वरूप आत्मा है। सबसे अधिक विचारणीय बात तो यह है कि जिस समय मेरा और महात्मा जी का शास्त्रार्थ हो रहा था, उस समय एक ओर तो मैं ही पूर्वपक्षी (नास्तिक शंकावादी) बन गया और दूसरी ओर मैं ही उत्तरपक्षी (समाधान

करने वाला महात्मा) भी बन गया। मेरी जिन निर्बल युक्तियों को महात्मा जी की प्रबल युक्तियाँ खण्डन करती जा रही थीं, वे प्रबल युक्तियाँ भी मेरे ही मन की उपज थीं। इससे यही सिद्ध होता है कि चेतन शक्ति ही समस्त विद्याओं व विज्ञानों का एक-मात्र आदि कारण, स्रोत व भण्डार है।

जिस समय मेरा शास्त्रार्थ हो रहा था, उस समय केवल मुझ से अतिरिक्त और कोई दूसरा वहाँ था ही नहीं। अब मुझे भली प्रकार से अनुभव हो गया कि इस जाग्रत अवस्था की सृष्टि में पढ़ना-पढ़ाना, कहना-सुनना, ज्ञान-विज्ञान, कारण-कार्य, अपना-पराया, शत्रु-मित्र, जन्म-मृत्यु, ज्ञान-अज्ञान, बन्धन-मोक्ष, सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, जड़-चेतन, जीव-ईश्वर इत्यादि जो कुछ भी मन-वाणी का विषय भौतिक जगत है, वह सम्पूर्ण क्रियाशक्ति व ज्ञानशक्ति से कार्य रूप में और सत् व चित् रूप से कारण रूप में केवल चेतन आत्मा ही पूर्ण हो रहा है। बस, पंडित जी! अब तो मैं महात्मा जी के पास केवल दर्शन व सत्संग करने के ही लक्ष्य से आपके साथ चल रहा हूँ।

इसी विषय पर एक उर्दू के कवि ने कहा है कि—

न कुछ पाया, न कुछ खोया, न लिया, न दिया कुछ।
सिर्फ एक ख्याल के पलटे से जल्वा माबक़ा देखा॥

इसी विषय पर महात्मा गिरधर जी की एक बहुत ही सुन्दर कविता है—

मरजी जब चेतन की झख मारन की होय ।
मृग तृष्णा के नीर में बह चाल्यो विन तोय ॥
बह चाल्यो विन तोय, अधः ऊर्ध गोते खावे ।
कभी जावे केदार कदा पुनि काशी जावे ॥
कह गिरधर कविराय कौन पर दीजै अरजी ।
झख मारन की आप भई चेतन की मरजी ॥

× × × ×

परमेश्वर तू आप है भावे मान न मान ।
चार वेद छै शास्त्र यों अठदस कहत पुरान ॥
अठदस कहत पुरान, कृष्ण गीता में गायो ।
वशिष्ठ श्रेष्ठ उपदेश राम को यही सुनायो ॥
कह गिरधर कविराय उमा से कहे महेश्वर ।
भावे मान, न मान—आप तू है परमेश्वर ॥

मेरा तथा अन्य चार महात्माओं का कनखल में नहर के किनारे परस्पर आत्म-विचार हो रहा था। इतने में गुरुकुल की ओर से कई महाशय आ धमके और मेरे ही निकट आकर बैठ गये । बैठते ही बोल पड़े—'स्वामी जी, क्या आप ब्रह्म हैं ?' मैंने कहा—'नहीं ऐसी तो कोई बात नहीं।' उन्होंने कहा—'नहीं-नहीं, आप लोगों के कथन से ऐसा स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि

आप अपने आप को 'ब्रह्म' कह रहे हैं।' मैंने कहा कि यदि आप को ऐसा ही ज्ञात हो रहा है तो कोई बात नहीं, आप मुझे ब्रह्म ही मान लीजिये ।

उन्होंने कहा कि ऐसे ही मुफ्त में आपको ब्रह्म कैसे मान लें ? मैंने कहा कि नहीं, मुफ्त में नहीं, जो कीमत अदा करनी पड़ेगी, वह मैं कर दूँगा। वे बोले कि कीमत क्या ?—ईश्वर ने तो सारे जगत की रचना की है,—बड़े-बड़े पहाड़, नदियां, वृक्ष इत्यादि बनाये हैं, आप तो एक मक्खी भी नहीं बना सकते। मैंने कहा कि पंच तत्वों सहित सारे जगत को मैंने ही बनाया है। उन्होंने कहा कि अच्छी बात है, आप यहां पीपल का एक वृक्ष बना दीजिये, तब हम आपको ब्रह्म मान लेंगे।

मैंने उत्तर दिया कि पहले आप अपने ईश्वर को कहिये कि वह यहां एक पीपल का पत्ता ही बना दे। तब मैं भी आपके देखते-ही-देखते यहाँ सैकड़ों पीपल के वृक्ष खड़े कर दूँगा। यदि आपके ईश्वर में कोई साहस है तो बुलाओ, देरी क्यों कर रहे हो ? अच्छा, पत्ता न सही, मैं एक रोम उखाड़ता हूँ, वह उसी को पुनः उसी स्थान पर जोड़ देवे अथवा यह भी नहीं कर सकता तो इस तृण को ही यहां से उठाकर वहां रख दे।

उन्होंने उत्तर दिया कि ईश्वर स्वतन्त्र है, हमारा कहना कैसे मान सकता है ? तब मैंने कहा कि फिर मैं ही आपका कहना क्यों मानूँ ? ऐसे परोक्ष बन्ध्या पुत्र ईश्वर को बुद्धि से निकालना चाहिए तब हमारे लोगों की बुद्धि कुछ विवेक-युक्त बन सकती है।

इसी प्रकार एक बार बृन्दावन में किसी 'ठाकुर भक्त' ने भी मुझे टोका। मैं 'शिवोऽहम्-शिवोऽहम्' कहता हुआ जा रहा था कि अचानक ही एक 'श्री ठाकुर जी की कृपा से' भक्त बोल पड़े कि भगवान् शङ्कर ने तो हलाहल पान कर लिया था, आप एक तोला संखिया ही खाकर दिखला दें। मैंने कहा कि बड़ी सुन्दर बात है। आप शिवजी से कहिये कि एक रत्ती ही संखिया मेरे सामने खा लें। फिर तो मैं अभी आपके देखते-ही-देखते तोला क्या, मनों संखिया खा जाऊँगा। बस, फिर श्री शालिग्राम जी ने मुड़कर पीछे की ओर मुँह तक न किया।

इन सब बातों के कहने का तात्पर्य यह है कि जब सच्चिदानंद पूर्ण ब्रह्म ही चेतन आत्मा के रूप से 'अहं' रूप में विद्यमान हो रहा है, सूर्य की भांति जगमगा रहा है, एक क्षण के लिये भी अपने आत्मा से पृथक् होकर परोक्ष व भिन्न नहीं हो सकता, तो फिर अपने चेतन आत्मा से भिन्न कहीं अलग ही मटरगश्ती करते हुए उस परोक्ष ईश्वर को मानने से क्या लाभ? यदि वह आत्मा से भिन्न होगा तो अनात्मा (मिथ्या) होगा। यदि चेतनसत्ता से भिन्न होगा तो जड़ होगा। यदि वह पूर्णरूप से सर्वरूप नहीं होगा तो परिच्छिन्न होगा। ऐसे मन-गढ़ित व कपोलकल्पित ईश्वर की शोभा तो अंधविश्वासी साम्प्रदायिक मन्दिरों, मसजिदों एवं गिरजाघरों में ही होती है या किसी हवनकुण्ड में आहुति के साथ स्वाहा कर देने के लिये ही होनी चाहिये। विद्वानों व बुद्धिमानों को ऐसे 'खुदा' या 'गॉड'

को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उन्हें तो जो ईश्वर सर्व का अपना आप और सर्वरूप व हाजिर-हजूर प्रत्यक्ष है, यथार्थ बोध से अतिरिक्त उसके लिये अन्य साधन की किञ्चित् मात्र कोई आवश्यकता ही नहीं है। केवल दृढ़ता व निश्चयपूर्वक अपने स्वात्मानन्द के सिंहासन को,—जिससे वे कभी भी, त्रिकाल में भी, तिल-भर भी इधर-उधर विचलित नहीं हुए, अनुभव कर लेने-भर की ही आवश्यकता है, और कुछ नहीं। इसलिये बोलो—'अपने सच्चिदानन्द आत्मा की जय! और साथ ही कपोल-कल्पित अज्ञान का क्षय!'

अपना उद्धार ही सारे विश्व का कल्याण है

जगत् का उद्धार करने वाले समस्त कर्णाधार यदि सारे विश्व का सुधार करने से प्रथम अपना-अपना व्यक्तिगत सुधार ही कर लिया करें तो मैं समझता हूं कि सारे जगत् का उद्धार बड़ी ही शीघ्रता तथा सुगमतापूर्वक हो सकता है।

किसी ठोस पदार्थ को यदि एक स्थान से किसी दूसरे स्थान पर हटाना हो तो सम्पूर्ण को पकड़कर खींचने की अपेक्षा उस पदार्थ का एक कोना ही पकड़कर खींचने से वह समस्त पदार्थ उस स्थान से सरक कर दूसरे स्थान पर आ जायेगा। इसी प्रकार यह सारा विश्व एक ठोस वस्तु के सदृश है और हमारा मन, बुद्धि, प्राण, शरीर इत्यादि व्यक्तित्व इसी संसार का एक विशेष भाग है। अतः अपने उद्धार से समस्त विश्व का उद्धार सहज ही हो जायेगा।

किसी रोगी के रोग की चिकित्सा करने से पहले ही, यदि रोग के कारण की खोज करके उसकी चिकित्सा कर ली जाय, तो फिर रोगी को रोग से मुक्त होने में कोई कठिनाई व विलम्ब न होगा। रोग के कारण को जाने बिना, लाख यत्न करने पर भी,

रोगी कभी भी दुःख व रोग से मुक्त नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार विश्वरूपी रोगी में सारे दुःखों व रोगों का मूल कारण है—'अपने आप का अज्ञान'। इसी कारण सारा संसार गिरा हुआ, भूला हुआ, बिगड़ा हुआ और महान् पतित व अधम भास रहा है। इन सब त्रुटियों व रोगों का प्रधान कारण अपने दूषित संकल्प ही हैं जो नाना प्रकार के अनात्माभिमान, पक्षपात, स्वार्थ, आसक्ति एवं राग इत्यादि कारणों से उत्पन्न होते हैं।

उत्कृष्ट या निकृष्ट जैसे भी संस्कार (विचार) हमारे मन में अंकित होते हैं, उन्हीं के अनुसार हम अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं एवं सारे जगत् की रचना कर लेते हैं तथा उन्हीं के अनुसार सारे विश्व में गुण-दोष, पाप-पुण्य, सुख-दुःख इत्यादि का अपने में या अपने से बाहर सारे जगत् में अनुभव करते या देखते हैं।

किसी व्यक्ति के नेत्रों के ऊपर जिस रंग का चश्मा लगा होगा, उसी रंग में रंगा हुआ सारा संसार या सारे संसार के पदार्थ उसे दिखाई देंगे। परन्तु वास्तव में उसके नेत्रों की उपाधि (ऐनक) के कारण ही ऐसा होता है। ठीक इसी प्रकार दृश्य संसार के समस्त गुण-दोष हमारी विवेक-दृष्टि पर छाई उपाधि रूपी ऐनक (अज्ञान) का ही परिणाम है। वास्तव में तो हम जगत को दोषपूर्ण ही नहीं कह सकते कि जिसे सुधारने के लिये नाना प्रकार के छल, बल, विद्या, बुद्धि, संस्था, सभा, पार्टी, सोसाइटी, मज़हब, सम्प्रदाय, चन्दा, निन्दा, खण्डन, मण्डन, कलह, विद्वेष, संघर्ष, रक्तपात, पक्षपात, कान्फ्रेन्स इत्यादि साधनों की आव-

श्यकता पड़े। हम इनसे विश्व का सुधार नहीं कर सकते बल्कि अपनी-अपनी पाशविक वृत्तियों की पूर्ति के लिए ही इन नाना प्रकार के उपायों, उपचारों को प्रयोग में लाते हैं और इनसे अपनी रक्षा के लिये 'ढाल' का काम लेते हैं।

क्या आज तक किसी ने जगत का सुधार किया है? बड़े-बड़े पथ-प्रदर्शक,—राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, नानक, कबीर, दयानन्द इत्यादि, जिन्हें लोग अवतार, प्राणीमात्र के हितैषी, निर्दोष, पवित्र, महानुभाव करके मानते हैं तथा इनके अतिरिक्त और भी बहुत से ऋषि, मुनि, महात्मा, पीर और पैगम्बर आये। इन सभी ने इस जगत को कुत्ते की पूंछ की भाँति कुछ सीधा करने की चेष्टा (उपाय) की, परन्तु वह फिर भी अभी तक टेढ़ी की टेढ़ी ही नहीं, वरन संसार की परिस्थिति पहिले से भी अब अधिक भयंकर ही होती जा रही है।

क्या उन सुधारकों के समय की अपेक्षा आज का जगत अधिक सुखी, शान्त व संगठित हो गया है? पहिले की ही तरह क्या अब भी लोग माता के गर्भ से जन्म लेकर, तरुण होकर नाना प्रकार के रोगों से अथवा अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त नहीं हो रहे हैं? क्या अब एक राष्ट्र का किसी दूसरे राष्ट्र के साथ, एक पार्टी का किसी दूसरी पार्टी के साथ, एक समाज का किसी दूसरे समाज के साथ, एक जाती का किसी दूसरी जाती के साथ, एक सम्प्रदाय का किसी दूसरे सम्प्रदाय के साथ, एक धर्म का किसी दूसरे धर्म के साथ या एक व्यक्ति का किसी दूसरे

व्यक्ति के साथ कलह, विद्वेष, संघर्ष और रक्तपात नहीं हो रहा है ?

क्या अब सारे देश और सारे देशों के लोग पहिले से अधिक समृद्धिशाली या सुखी हो गये हैं ? क्या अब सारे राष्ट्रों में से भूख, बेकारी, निर्धनता, वैमनस्य, अन्याय, जुल्म, अत्याचार, झूठ, पाखण्ड, छल, छिद्र, लोभ, जूआ, चोरी, व्यभिचार, राग, द्वेष, ब्लैक मार्केट, रिश्वत इत्यादि समाप्त हो गये हैं ? क्या अब सभी मनुष्य धर्मात्मा, ईश्वरभक्त, देशहितैषी, दानी, दयालु, न्यायकारी, परोपकारी, सदाचारी, चरित्रवान, निष्पक्ष, ज्ञानी, विद्वान, अनुभवी, सत्यवादी, आत्मपरायण और निर्भय हो गये हैं ? क्या देश, समाज एवं प्राणीमात्र का हित करने वाले सद्गुण अब पहिले से अधिक संसार में व्याप्त हो गये हैं ? क्या अब अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, तूफान, महामारी, दुर्भिक्ष इत्यादि दैवी प्रकोप नहीं होते ? यदि ऐसा नहीं है तो फिर जगत् का क्या सुधार हुआ ? इसलिए जिन्होंने भी जगत् में निःस्वार्थभाव से कुछ परोपकार किये हैं या करेंगे, वे प्रथम स्वयं योग्य बनकर अर्थात् अपने आपको सुधार कर ही कुछ कर सके या कर सकेंगे।

जो शिक्षा हम किसी दूसरे को देना चाहते हैं, उसे देने से प्रथम उसका ठीक-ठीक पूर्णरूप से यथार्थ अनुभव होना हमारे लिये भी परमावश्यक है। यही अपना व्यक्तिगत सुधार है। जिस प्रकार एक रोगी दूसरे रोगी की चिकित्सा नहीं कर सकता, एक

अन्धा किसी दूसरे अन्धे को मार्ग नहीं दिखला सकता, एक बँधा हुआ किसी दूसरे बँधे हुए को मुक्त नहीं कर सकता, एक कृपण किसी दूसरे व्यक्ति को उदारता का उपदेश नहीं दे सकता या एक व्यभिचारी किसी व्यक्ति को ब्रह्मचर्य की शिक्षा नहीं दे सकता,—इसी प्रकार जो व्यक्ति स्वयं सदोष है, वह किसी दूसरे को निर्दोष अर्थात् जगत का सुधार नहीं कर सकता। अस्तु!

ईश्वरवादी सारी सृष्टि को ईश्वर की ही रचना मानते हैं। ईश्वर ने इतनी गलती क्यों की जिसे सुधारने के लिये इतने बड़े-बड़े सुधारकों की आवश्यकता पड़ती है? क्या ईश्वर इतना नालायक, बुद्धिहीन, अल्पज्ञ है कि उसके बनाये हुए जगत को सुधारने की इतनी चिन्ता व व्याकुलता आज हम लोगों को करनी पड़ रही है? यदि कोई यह कहे कि ईश्वर अपनी त्रुटियों को ठीक करने के लिये स्वयं आता या किन्हीं दूसरों को समय-समय पर भेजता रहता है,—तब तो फिर ज़ार बादशाह से अधिक उसका कोई महत्त्व ही नहीं। फिर तो वह शक्तिहीन, अल्पज्ञ, किसी देश विशेष में बैठा हुआ एक राजा मात्र ही रहा। फिर वह इतने बड़े-बड़े ब्रह्माण्डों, सूर्य-चन्द्रादि ग्रहों एवं पञ्चमहाभूतों का निर्माता कैसे हो सकता है?

यदि कोई यह कहे कि नाना प्रकार के दोष-गुणयुक्त नाम-रूपात्मक कारण-कार्य सहित यह जगत अपने सङ्कल्प (मन) से ही उत्पन्न होता है। तब प्रश्न होता है कि यह शरारत का पुतला, सारे विक्षेपों, बन्धनों या शुभाशुभ (स्वर्ग-नरकादि) का कारण

मन कहाँ से और क्यों आया ? कर्मवादी फौरन बोल पड़ेंगे कि इसके पूर्वकृत कर्मों द्वारा आया। परन्तु इस पर एक ही प्रश्न ऐसा होगा कि कर्मफलवादी सुनते ही मौन हो जायेंगे। बताइये,— प्रथम बीज हुआ या वृक्ष ? मुर्गी हुई या अण्डा ?

मनुष्य के सारे शुभाशुभ कर्म शरीर और मन से ही तो होते हैं और बिना कर्म के शरीर व मन की उत्पत्ति हो नहीं सकती। तो फिर इन शरीर व कर्म में कारण कौन है तथा कार्य कौन है ? इसका उत्तर न होने से बाध्य होकर, बिना किसी कर्ता व कर्म के, इस जगत् को धारा-प्रवाह रूप से अनादि मानना पड़ेगा। तभी सर्वशक्तिमान् मनुष्यों के द्वारा कुछ सुधार की सम्भावना भी हो सकती है जैसा कि विशेषज्ञ अनुभवी विद्वान प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों के द्वारा अथवा आधुनिक काल के पाश्चात्य वैज्ञानिकों, विद्वानों एवं नेताओं द्वारा जगत के प्राणियों का बहुत कुछ उपकार हुआ है और आगे भी होता रहेगा।

वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित, कारणरूप से केवल एक चेतन आत्मा ही कार्यरूप से जगत के रूप में पूर्ण हो रहा है। छान्दोग्य की श्रुति कहती है कि—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत।'

अर्थात् यह सारा नामरूपात्मक जगत निश्चय करके ब्रह्म रूप है तथा सारे जगत का उसी से जन्म और उसी में लय होता है। ऐसा जान कर शान्त चित्त से उपासना (ध्यान) करो अथवा

एकता का निश्चय ही शान्ति का उपाय है अर्थात् इस प्रकार का अनुभव ही अपने-अपने आत्मा का कल्याण और विश्व का परम सुधार है।

न थी जब कि हमको अपनी ख़बर,
रहे देखते औरों के ऐबो हुनर।
पड़ी अपनी बुराइयों पर जो नज़र,
तो निगाह में कोई बुरा न रहा॥

जगत का वास्तविक स्वरूप

कारण-कार्य सहित इस जगत का निर्णय व विवेचन करने के लिये ही सब मतावलम्बियों,—हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, बौद्ध, आस्तिक-नास्तिक इत्यादि के जितने भी दर्शन-शास्त्र हैं,—सब लगे हुए हैं।

यह जगत क्या है? इसे किसने बनाया? क्यों बनाया? इसका कारण क्या है? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है?—इत्यादि प्रश्नों का विचार विश्व के सभी विद्वान् हमेशा से करते आये हैं किन्तु अभी तक इस जगत का यथार्थ निर्णय नहीं हो सका है। इसकी वास्तविकता का यथार्थ निर्णय हो गया होता तो इसके स्वरूप व प्रकार के विषय में संसार के जितने भी मतभेद हैं, वे सभी समाप्त हो गये होते। जिस प्रकार सूर्य के अस्तित्व व स्वरूप में किसी का कोई विशेष मतभेद नहीं है क्योंकि वह सभी देश, समाज तथा मतावलम्बियों को एक जैसा ही अनुभव हो रहा है। इसी प्रकार जगत भी सभी को एक जैसा अनुभव तो अवश्य हो रहा है, किन्तु इसे एक जैसा मानने में बड़ा मतभेद देखने में आ रहा है। गम्भीर दृष्टि से विचार करने से यही ज्ञात होता है कि इसके अस्तित्व से तो कोई भी इनकार नहीं कर

सकता। इसकी उत्पत्ति और अन्त के विषय में ही सारे मत-भेद हैं।

इस संसार की उत्पत्ति सभी दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से मानी है, किन्तु किसी का भी मानना अनुभव व तर्क की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। जब तक इसकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तक कभी भी इसका ठीक-ठीक यथार्थ निर्णय नहीं हो सकेगा। ईश्वरवादी तो इसकी उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा हुई मानते हैं। अनीश्वरवादी इसकी उत्पत्ति प्रकृति से हुई मानते हैं, किंतु अभी तक कोई भी दार्शनिक इस बात का उत्तर नहीं दे सका कि प्रथम बीज हुआ कि वृक्ष? अर्थात् इन दोनों में से कारण कौन है और कार्य कौन? बाध्य होकर अन्त में यही मानना पड़ता है कि दोनों परस्पर एक दूसरे के कारण कार्य हैं। इसी प्रकार यदि जगत का कारण ईश्वर व प्रकृति को मानें तो समष्टि नाम-रूप के समूह को ही जगत कहते हैं, समष्टि नाम-रूप को समाप्त कर दिया जाय तो ईश्वर एवं प्रकृति,—ये दोनों नाम तथा इन दोनों का कोई-न-कोई माना हुआ रूप ही शेष नहीं रहता।

तात्पर्य यह है कि जिस मन व बुद्धि के द्वारा जगत के कारण ईश्वर व प्रकृति की कल्पना करते हैं, वे ईश्वर व प्रकृति, मन एवं बुद्धि की ही एक उपज हैं और मन एवं बुद्धि जगत का ही एक अंशमात्र है। इस दृष्टिकोण से ईश्वर व जगत में कारण व कार्य कौन है?—इस बात का कोई भी दार्शनिक सन्तोषजनक निर्णय नहीं कर सकता। इससे बाध्य होकर यही मानना पड़ता

है कि यह जगत प्रवाह रूप से अनादि है। ऐसा मानने से ही इस जगत की उत्पत्ति में जितने भी मतभेद हैं, वे समाप्त हो सकते हैं।

कुछ महानुभाव इस जगत की उत्पत्ति इस प्रकार से मानते हैं कि यह पृथिवी सूर्य से भिन्न होकर कालान्तर में शीतल होते-होते क्रमशः इस पर स्थावर-जंगम रूप सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। तब यह प्रश्न आ जाता है कि सूर्य से पृथिवी को प्रथक होते किसने देखा? किसी मनुष्य ने अथवा ईश्वर ने? यदि यह कहें कि इन दोनों में से किसी ने अवश्य ही सूर्य से पृथिवी को पृथक होते देखा होगा, तो फिर वही पहिले वाला प्रश्न पुनः उपस्थित हो जायगा कि मनुष्य व ईश्वर दोनों तो समष्टि नाम-रूप के अन्तर्गत ही हैं तथा नामरूप के समष्टि को ही जगत कहते हैं। तो फिर किसी प्राणी का प्रादुर्भाव होने अर्थात् किसी भी प्रकार की सृष्टि होने से पूर्व पृथिवी को सूर्य से पृथक होते किसने देखा? और देखने वाली सृष्टि बिना पृथिवी के कैसे हो गई? सूर्य की ऊष्णता पांच करोड़ डिग्री मानी जाती है। उसमें से पृथक हुआ भाग भस्म के अतिरिक्त समुद्र एवं वनस्पतियुक्त सृष्टि के योग्य कैसे हो सकता है? इसलिये कारण-कार्य रहित इस जगत को धारा प्रवाह अनादि ही मानना पड़ेगा।

अब 'अनादि' शब्द के विषय में कुछ विचार किया जाता है। अन्+आदि=अनादि अर्थात् जिसका आदि न हो। आदि, उत्पत्ति, आरम्भ न हो, उसी को अनादि कह सकते हैं। समष्टि

नाम-रूप का आदि-अन्त नहीं है। जिस प्रकार कुछ मनुष्य तो जन्मते व मरते देखने में आते हैं, किन्तु एक ही काल में संसार के सारे मनुष्य न जन्म ले सकते हैं और न मृत्यु को ही प्राप्त हो सकते हैं। किसी का भी प्रादुर्भाव होने से प्रथम उसका उपादान कारण पहिले से ही विद्यमान रहता है तथा नष्ट हो जाने पर वह वस्तु फिर अपने उस कारण में ही लय हो जाया करती है। अतः किसी भी वस्तु का समष्टि व कारण स्वरूप से नाश नहीं हुआ करता। कारण के कार्य-रूप हो जाने का नाम ही वस्तु का जन्म कहलाता है और फिर उसी कार्य के कारण रूप हो जाने को ही उस वस्तु की मृत्यु या अन्त कहा जाता है। उत्पत्ति में कोई भी वस्तु कहीं से नई नहीं आ जाती तथा मृत्यु में कहीं चली नहीं जाती। प्रत्येक वस्तु का रूपान्तर मात्र होता रहता है।

इससे सिद्ध हुआ कि समष्टि रूप से जगत की उत्पत्ति एवं विनाश नहीं होता क्योंकि जगत का स्वरूप अर्थात् कारण 'सत्' है। किसी भी वस्तु के रूप एवं स्वरूप में बड़ा अन्तर है। ऊपरी बनावट को नाम-रूप कहते हैं तथा उसी वस्तु की सत्ता को स्वरूप (अपना निजी रूप) कहते हैं, जिसे वस्तु का 'कारण' भी कहा जा सकता है।

इसलिये आइये, देखें कि इस जगत का वास्तविक स्वरूप यानी कारण क्या है ?

जगत के प्रत्येक पदार्थ के ऊपर एक परदा होता है जिसको हटा देने से उस के स्वरूप अर्थात् कारण का प्रत्यक्ष हुआ करता

है। उसी को वस्तु की सत्ता भी कह सकते हैं। किसी भी वस्तु के नाम-रूप अर्थात् बनावट को पृथक कर लेने पर कारण या स्वरूप ही शेष रह जाता है। जिस प्रकार प्रत्येक भूषण की ऊपरी बनावट (नाम-रूप) को हटा देने पर, उसी भूषण के स्वरूप या कारण भूषण को व्यवहार में लाते रहने पर भी सदा स्वर्ण ही उसके आदि, अन्त और मध्य में विद्यमान रहता है। इसी प्रकार से जगत के प्रत्येक पदार्थ के ऊपरी पर्दे को 'नाम-रूप' कहते हैं! इसको हटा देने पर उस वस्तु का स्वरूप या कारण 'सत्-चित्-आनन्द' ही,—जगत के रहते हुए या व्यवहार करते हुए भी,—सत्तारूप से त्रिकाल में विद्यमान रहता है, जिसको ईश्वर, गॉड, खुदा, ब्रह्म, प्रकृति, आत्मा, मोक्ष, निर्वाणपद इत्यादि नामों से कथन किया गया है।

प्रत्येक नामरूप यानी वस्तु की सिद्धि 'है' के द्वारा ही हुआ करती है। 'है' शब्द के बिना किसी भी वस्तु का होना (अस्तित्व) सिद्ध ही नहीं हो सकता। यहाँ तक कि 'नास्ति' अर्थात् 'न होना' भी 'है' के द्वारा ही सिद्ध होता है,—यथा 'नहीं है'। यह 'है' शब्द 'सत्' का सूचक है। इस 'है' (सत्) को जाना किसने? चित् ने अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही भाव तथा अभाव को भी जाना जाता है। अतः वह 'सत्' ही 'चित्' है। जहाँ 'सत्-चित्' ही होगा, वहाँ दुःख नहीं होगा। वहाँ क्या होगा? केवल आनन्द ही शेष रहेगा। अतः जो 'सत्-चित्' है, वही आनन्द है। 'सत्-चित्-आनन्द'—ये तीनों सत्ताएँ एक ही वस्तु

के स्वरूप हैं, जैसे द्रवत्व, शीतलत्व, मधुरत्व,—ये तीनों एक जल के ही स्वरूप भूत हैं। इसी प्रकार से इस जगत, ईश्वर एवं प्रकृति का स्वरूप 'सत्-चित्-आनन्द' है।

अन्ततः तात्पर्य यही निकला कि जगत का वास्तविक स्वरूप 'सत्-चित्-आनन्द' है तथा नाम-रूप ही सत्-चित्-आनन्द के ऊपर का वह पर्दा है जिसको जगत, संसार, विश्व, जहान, दुनिया, वर्ल्ड इत्यादि नामों से कथन किया गया है और जो समष्टि नाम-रूप का ही समूह कहलाता है।

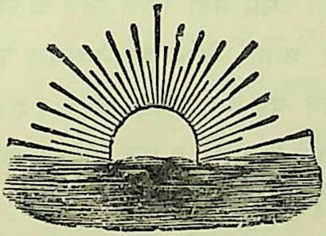

कर्म का वास्तविक स्वरूप

मन, इन्द्रिय एवं प्राणों के द्वारा जो कुछ भी व्यापार हो रहा है, उसी को 'कर्म' कहते हैं अर्थात् प्राणीमात्र के शरीरों में विद्यमान वह क्रियाशक्ति जिसे विशेष-चैतन्य भी कह सकते हैं और जो सारे जड़-वर्ग को गतिशील बना रही है। कोई भी इंजिन या मशीन जब क्रिया करती है यानी जब उसमें गति का संचार होता है तो वहाँ दो प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता होती है;—एक तो उसमें गति उत्पन्न करने वाली क्रियाशक्ति और दूसरी उस गति और मशीन का नियन्त्रण करने वाली चेतना-शक्ति। अभिप्राय यह है कि क्रियाशक्ति व ज्ञानशक्ति दोनों के द्वारा ही हम लोगों के शरीर व मन, इन्द्रियाँ अथवा सारा जड़-वर्ग विभिन्न चेष्टाएँ कर रहा है।

उदाहरणार्थ एक रेल के इंजिन को लीजिये। उसकी स्टीम ही उसे गतिशील बनाने वाली क्रियाशक्ति है और उस शक्ति का नियंत्रण करने वाला ड्राइवर उसकी ज्ञानशक्ति है। परन्तु जब इंजिन में स्टीम समाप्त हो जाती है, तब ड्राइवर के रहते हुए भी इंजिन न तो चल सकता है और न बोल ही सकता है,—बिलकुल गतिहीन हो जाता है। इसे इंजिन की 'मृत्यु' भी कह सकते हैं। ठीक इसी

प्रकार हम लोगों के शरीर इंजिन के तुल्य हैं, श्वास या प्राण 'स्टीम' के तुल्य है तथा ज्ञानशक्ति (चेतन आत्मा) ड्राइवर के तुल्य है। जिस समय इस शरीर की मृत्यु हो जाती है तो केवल इस का श्वास (प्राण) रूपी स्टीम ही समाप्त होता है। चेतन आत्मा तो ड्राइवरवत् ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता है। वह कहीं भी आता-जाता नहीं, जैसे कि घट के टूट जाने पर वहाँ का आकाश कहीं आता-जाता नहीं और न उसका कुछ बनता-बिगड़ता ही है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सविशेष चेतन या क्रियाशक्ति को कर्म कहते हैं तथा निर्विशेष चेतन या ज्ञानशक्ति को आत्मा कहते हैं। वास्तव में ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इसलिए जो कर्म को जड़ कहते हैं, वे स्वयं जड़ हैं। यहाँ तक कि मन व बुद्धि के द्वारा जो आत्म-अनुसन्धान, ब्रह्मविचार या ध्यान करते हैं, वह भी 'कर्म' ही है। सुख-दुःख व हानि-लाभ भी मनुष्य के कर्म के ही परिणाम हैं। कर्म की सफलता व असफलता में एक विशेष हेतु उसी कर्म में गर्भित रहता है। जब हम किसी भी प्रकार के कर्म को आरम्भ करते हैं तब स्थूल कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्म आरम्भ होने के पूर्व मन व बुद्धि में उस कर्म का विचार उत्पन्न होता है, जैसे कि किसी भवन को स्थूल रूप में खड़ा करने से प्रथम कागज के ऊपर सूक्ष्म रूप में उसका चित्र अङ्कित किया जाता है। तत्पश्चात् उसी नक्शे के अनुसार वह बिल्डिङ्ग निर्माण की जाती है।

जब किसी कर्म का बीज अन्तःकरण में बोया जाता है

अर्थात् उसे करने का विचार किया जाता है, उस समय से लेकर कार्य की समाप्ति-पर्यन्त हमारे अन्तःकरण में दो प्रकार की वृत्तियों का संघर्ष या क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। एक वृत्ति तो कहती है--'कार्य में सफलता होगी'! साथ ही दूसरी कहती है--'नहीं होगी'। अब इसमें यदि सफलता की वृत्ति की शक्ति ज्यादा बढ़ गई तो सफलता वाली वृत्ति, असफलता की वृत्ति को पी जायगी और कार्य अवश्यमेव सफल हो जायगा। और यदि असफलता की वृत्ति का बल अधिक हो गया तो वह सफलता की वृत्ति को समाप्त कर देगी। फिर वह कर्म परिणाम शून्य होगा। उदाहरणार्थ जब लोग रस्सा-खिंचाई करते हैं तब दोनों ओर बराबर ही मनुष्य लगते हैं। जिस पार्टी में शक्ति अधिकहोती है, वह विरोधी पार्टी को अपनी ओर खींच लाती है। तात्पर्य यह है कि जिस कार्य के लिये ऐसा अटल, पूर्ण एवं दृढ़ निश्चय हो जाय कि फिर उसमें किञ्चित मात्र भी संशयांकुर न निकलने पावे, तभी उस कार्य की सिद्धि होती है। विरोधी वृत्ति के दमन करने का नाम ही अभ्यास (साधन) है। इस साधन को ही दूसरे शब्दों में 'कर्म' भी कह सकते हैं।

कर्म तीन प्रकार का कथन किया गया है—कर्म, विकर्म और अकर्म। कर्म उसे कहते हैं कि जिसका परिणाम 'सुख' हो अर्थात् शुभकर्म। विकर्म उसे कहते हैं कि जिसका परिणाम दुःख हो अर्थात् निषिद्ध (पाप) कर्म। अकर्म उसे कहते हैं जो किसी भी प्रकार के फल (बन्धन) से रहित हो, जैसे कि तत्त्ववेत्ता का कर्म।

फलासक्ति एवं कर्त्ता-भोक्तापने के अभिमान से रहित होने से ही 'अकर्म' होता है।

उपरोक्त जो कर्म तथा विकर्म का स्वरूप बतलाया गया है, उसमें सबसे अधिक विचार करने की बात यह है कि किसी भी कर्म में,—चाहे वह स्वरूप से पाप हो या पुण्य, शुभ हो या अशुभ,—स्वयं किसी प्रकार के सुख व दुःखरूपी फल उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। जिन कर्मों का शास्त्रकारों ने धर्म (पुण्य) नाम से कथन किया है, देश-काल की परिस्थिति एवं कर्त्ता के अनुसार वही पुण्यकर्म पाप बन जाया करते हैं और जिसे पाप या अधर्म रूप कथन किया है, वही देश-काल की परिस्थिति एवं कर्त्ता के अनुसार पुण्य (धर्म) हो जाया करता है।

अब इसका अन्य प्रकार से विचार किया जाता है। एक गौ के कीड़े पड़ गये हैं। यदि गाय की रक्षा की जाती है तो हज़ारों कीड़े मरते हैं और यदि कीड़ों की रक्षा की जाती है तो गाय मरती है। इधर वेद भगवान् एवं बुद्ध भगवान् यह आज्ञा देते हैं कि,—अहिंसा परमो धर्मः—अर्थात् मन, वाणी व शरीर के द्वारा किसी की हिंसा नहीं करनी या किसी को भी पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिये क्योंकि अहिंसा ही परम धर्म या पुण्य है। ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिये ? ऐसी समस्या आ जाने पर इस प्रकार विचार करना होगा कि कर्म आरम्भ करने से पूर्व परिणाम को देखे कि गाय की रक्षा होने में देश या समाज को लाभ पहुंचता है अथवा कीड़ों की रक्षा होने से जनता को लाभ होता है।

विचार करने से ज्ञात होगा कि यदि एक गाय की रक्षा होती है तो उसके द्वारा सम्पूर्ण जीवन में कितनी सन्तति होगी ? कम से कम पाँच बच्चे भी मान लिये जायँ और उनमें से यदि तीन बछिया (मादा) मान ली जायँ, तब उन तीन गायों की सन्तति आगे न जाने कितनी होगी ? फिर सन्तति की उनकी भी सन्तति कितनी होगी ! इस प्रकार सोचने या ध्यान देने से पता लगता है कि एक ही गौ कालान्तर में लाखों गाय एवं बैलों की जननी बन सकती है तथा उससे देश को बहुत लाभ पहुँच सकता है,—क्योंकि बैलों के द्वारा ही खेती होती है। खेती से नाना प्रकार के अन्न, फल, शाक, भाजी, रुई इत्यादि का उत्पादन होता है तथा इन्हीं खाद्य पदार्थ एवं वस्त्रों के ऊपर मानवमात्र का जीवन निर्भर है। साथ ही उनके घी-दूध से कितना लाभ पहुँचता है ! उनके गोबर से जलाने के लिये कण्डे व खेत में डालने के लिए खाद इत्यादि कितनी होगी ? मरने पर चमड़ा कितना उपयोगी हो जाता है ? उसकी हड्डियों की खाद एवं फॉसफोरस बनता है जो कि बहुत ही उपयोगी वस्तुएँ हैं। इतने विचार से यह बात स्पष्ट हो गई कि गौ देश व समाज के लिये परम उपयोगी वस्तु है।

अब उन कीड़ों की ओर ध्यान दीजिये कि उनकी रक्षा करने से कितनी हानि होगी ? उन से किसी को किंचित् मात्र भी कोई लाभ नहीं होगा। इस प्रकार परिस्थिति व कर्म के परिणाम को देखते हुए बिल्कुल निस्संकोच होकर,—धर्म व पुण्य मानते हुए, गौ की रक्षा के लिए हज़ारों कीड़ों का विनाश कर देना चाहिये।

अब यहाँ पर वेद व महात्माबुद्ध के सिद्धान्त के विरुद्ध हिंसात्मक महान् पाप ही धर्मरूप महान् पुण्य बन रहा है। हजारों यज्ञों के करने से भी जो पुण्य नहीं मिल सकता था, वही यहाँ हजारों जीवों (कीड़ों) का वध करने से प्राप्त हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में अशुभ (पाप) कर्म ही शुभ (पुण्य) बन रहा है।

एक समय जब मैं स्कूल में पढ़ता था, समाचार-पत्र में एक बड़ी विचित्र घटना छपी। उसे यहाँ उद्धृत कर रहा हूं।

इलाहाबाद के निकट दस मील की दूरी पर एक ग्राम है। वहाँ के एक सूबेदार मेजर इलाहाबाद शहर से पेन्शन लेकर घर वापिस जा रहे थे। मार्ग में लगभग बीस कसाई दो सौ गौएँ लिए जा रहे थे। सूबेदार ने पूछा कि तुम कौन हो और इन गौओं को कहाँ लिये जा रहे हो? उन लोगों ने उत्तर दिया कि हम लोग कसाई हैं और इन गौओं को बूचड़खाने में ले जा रहे हैं। सूबेदार ने कहा कि आप लोग तो व्यापारी हैं, आप को तो केवल मुनाफे से ही तात्पर्य है। इसलिये जितना भी मुनाफा उचित समझें, वह ले लें। घर पर चलिए अभी चुकता कर देता हूं और इन गौओं को छोड़ दें। कसाइयों ने हठ करके कहा कि चाहे आप चौगुना मूल्य दें, तो भी हम इन गायों को नहीं छोड़ेंगे।

सूबेदार साहब ने बहुत कुछ समझाया-बुझाया। जब सारे उपाय व्यर्थ गये, तब अन्त में वे अपने मन में सोचने लगे कि इन कसाइयों का तो यही व्यापार है। यदि ये जीते रहे तो इनके

द्वारा लाखों गौओं, भेड़ों व बकरियों की हिंसा होगी। इन कसाइयों से आगे लाखों-करोड़ों सन्तति होगी, और उनके द्वारा भी भविष्य में असंख्यों निर्दोष पशुओं का बध होगा। इस प्रकार इन कसाइयों का जीवित रहना देश व समाज के लिये हानि के अतिरिक्त अन्य किसी भी लाभ का नहीं। इसलिये इन लोगों का बध कर देना ही अति उत्तम होगा। ऐसा निश्चय करके उस ने रिवाल्वर निकालकर बीसों कसाइयों को शूट कर दिया तथा उन गौओं को हाँक कर अपने गाँव में ले गया। वहाँ जिस-जिसने लीं, उन्हें गौ देकर शेष गौओं को गौशाला में पहुँचा दिया और उनके पालन के लिये कुछ रुपये भी दिए।

पुलिस को पता लगा तो सूबेदार साहब गिरफ्तार हो गये और सैशन में केस चल पड़ा। इन्होंने स्पष्ट स्वीकार कर लिया और कहा कि मैं क्षत्रिय हूँ। किसी प्राणी पर अन्याय (जुल्म) हो रहा हो तो उसकी रक्षा करना मेरा परम कर्तव्य है। मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया है। अब आपके लिए जो शासन-विधान है, उसका पालन आप कीजिए। अन्त में उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया गया।

उन्हें फाँसी के तख्ते पर खड़ा किया गया, गले में फाँसी की डोरी लगाई गई और नीचे से तख्ता खींचा गया। परन्तु सूबेदार महोदय का गला बिलकुल खाली का खाली रहा। दूसरी बार बड़ी सावधानी से ठीक-ठाक करके डोरी गले में लगाई गई और तख्ता नीचे से खींच लिया गया। पर इस बार भी वही

प्रथम वाला अद्भुत दृश्य रहा ! फिर तीसरी बार फाँसी लगाई गई, परन्तु इस बार तो डोरी ही टूट गई ।

ऐसी अपूर्व घटना को देखकर जज एवं डाक्टर साहब की बुद्धि चिन्तासागर में डुबकी लगाने लगी । अन्त में बाध्य होकर सूबेदार महोदय को मृत्यु-दण्ड से मुक्त करना पड़ा । यह घटना सन् १९११ की है । इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि पाप कर्म भी किस प्रकार से पुण्य-जनक हो जाता है ।

अब यह बात बतलाता हूं कि शुभ कर्म भी कैसे अशुभ (पाप) कर्म बन जाया करता है । दान देना, सत्य भाषण या किसी पर दया करना इत्यादि स्वरूप से तो पुण्य अवश्य हैं, किन्तु परिस्थिति के अनुसार इनमें भी पाप गर्भित रहता है । किसी व्यभिचारी, शराबी, मांसाहारी, देश एवं समाज के घातक, जनता से द्रव्य एकत्रित करके अग्नि में फूंकने वाले, अनेक प्रकार के पक्षपातपूर्ण एवं साम्प्रदायिक प्रचार करने वाले, पारस्परिक फूट, लड़ाई-झगड़ा कराने वाले अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ-युक्त, हिंसक इत्यादि को दान देने जैसा शुभ कर्म भी महान् अनर्थ उपस्थित कर देता है ।

एक महात्मा किसी वन में निवास करते थे । वे बड़े ही शान्तात्मा तथा सिद्ध पुरुष थे । एक दिन एक बधिक उन महात्मा की कुटिया पर जा निकला और कहने लगा कि मुझे भूख लगी है, कुछ खाने को दो । महात्मा ने उसे कुछ खाने को दिया । वहाँ एक रुपया पड़ा था । जाते समय महात्मा ने व्याध से कहा कि इस रुपये को भी उठा ले जाओ । व्याध ने उस रुपये को ले

जाकर उससे लोहे की सींकें खरीदीं और बहुत से तीर बनाये। उन्हीं तीरों से उसने सैकड़ों निर्दोष पक्षियों व पशुओं का बध किया। इधर महात्मा की सारी सिद्धि मिट्टी में मिल गई और उनका चित्त एक पापी की भाँति अत्यन्त विक्षिप्त हो गया। बधिक के द्वारा उस लोहे से जितने भी पशु-पक्षियों का बध हुआ, उसके निमित्त कारण तो महात्मा जी ही बने। ऐसी परिस्थिति में शुभकर्म भी अशुभ बन गया।

इसी प्रकार एक योगीराज महात्मा के निकट ही वन में दो-तीन कसाई एक गौ का बध कर रहे थे। गौ शक्तिशालिनी थी, छुड़ाकर उन्हीं महात्मा की ओर होकर भागी। भागते समय महात्मा ने उसे देखा। उन्हें इस बात का भी पता था ही कि गौ कसाइयों से छुड़ाकर भागी है। किन्तु महात्मा थे सत्यवादी! कसाइयों के पूछने पर उन्होंने बतला दिया कि गौ इधर को भागी है। कसाइयों ने जाकर गौ पकड़ ली और उसका बध कर दिया। उसी दिन महात्मा की कुटिया में आग लग गई और सब कुछ स्वाहा हो गया।

इसलिए किसी भी कर्म को प्रारम्भ करने से प्रथम,—चाहे वह धर्म हो या अधर्म, पाप हो या पुण्य, विहित हो या निषिद्ध,-देश, काल की परिस्थिति एवं उसके परिणाम को अवश्यमेव विचार लेना चाहिये। किसी भी पक्ष का अन्धविश्वासी या लकीर का फकीर नहीं बनना चाहिये, क्योंकि जिन शुभ गुणों व शुभकर्मों को शास्त्रकारों ने विहित, धर्मरूप एवं पालन करने के योग्य कथन

किया है,—वे भी कर्ता व परिस्थिति के अनुसार निषिद्ध या सर्वथा त्याज्य हो जाया करते हैं। इसके विपरीत जिन कर्मों व गुणों को अधर्म रूप, निषिद्ध तथा सर्वथा त्याज्य रूप से कथन किया है,–जैसे मिथ्या-भाषण, हिंसा, चोरी, डाका तथा व्यभिचारादि,–वे भी धर्म व शुभ के द्योतक हो जाया करते हैं। इस प्रकार का विवेकी कर्ता वही हो सकता है जो सर्वथा निष्काम व परोपकारी हो तथा जो किंचित्मात्र भी स्वार्थ व अभिमान-युक्त न हो। कर्म के ऐसे ही कर्ता के लिए भगवान् श्री कृष्ण ने उचित निर्णय दिया है—

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

अर्थात् जिस मनुष्य की बुद्धि सांसारिक पदार्थों में लिपायमान नहीं है यानी जो व्यक्तिगत स्वार्थ से सर्वथा रहित है एवं कर्ता-भोक्तापने के अभिमान से रहित है,—वह यदि सारे विश्व का भी हनन कर डाले, तो भी वह किंचितमात्र भी पाप से लिप्त नहीं होगा। मनुष्य के द्वारा जितने भी अनर्थ होते हैं, वे किसी न किसी व्यक्तिगत स्वार्थ या अभिमान को ही लेकर हुआ करते हैं। इसलिए, जो व्यक्ति इन दोनों दोषों से मुक्त है, उसके द्वारा देश व समाज को हानि पहुँचाने वाला कोई भी अनुचित व्यवहार हो ही नहीं सकता। इसीलिये कहा भी है—'स्वार्थी दोषान्न पश्यति।'

उपरोक्त क के विचार को ही श्रीकृष्ण ने गीता के चतुर्थमें अध्याय के श्लोक १६-१७ में यहाँ तक कहा है कि कर्तव्य व

अकर्तव्य क्या है ? धर्म व अधर्म क्या है ?—इस विषय में कवि (विद्वान्) पुरुष भी मोहित हैं। तुझे कर्म के वास्तविक स्वरूप का बोध होना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन यानी दुर्बोध्य है। इसलिये मैं तुझे उस कर्म के वास्तविक रहस्य को बतलाऊँगा जिससे तू इस अशुभ रूप संसार व कर्म-बन्धन से मुक्त हो जायगा। कर्म के इस रहस्य को इसी अध्याय के १८वें श्लोक में खोलते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत् ॥

अर्थात् जो व्यक्ति कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान, युक्त और सर्व कर्मों का वास्तविक कर्ता है।

यहाँ पर दो प्रकार के कर्म का वर्णन किया है,—एक कर्म, दूसरा अकर्म। जो कर्म परिणाम (फल) से युक्त हो, वह कर्म कहा जाता है और जो कर्म परिणाम या फल से रहित हो, उसे अकर्म कहते हैं अर्थात् जिस कर्ता में व्यक्तिगत स्वार्थ न हो और जो कर्ता-भोक्तापने के अभिमान से रहित हो, उसी कर्ता का किया हुआ कर्म अकर्म रूप होता है। इन दोनों दोषों से कौन-सा मनुष्य मुक्त हो सकता है ?—वही, जिसने कर्म के वास्तविक स्वरूप और अपने आप (आत्मा) को भली प्रकार से जान (अनुभव कर) लिया हो। वही सारे मनुष्यों में वास्तविक कर्ता अर्थात् महाकर्ता एवं महाभोक्ता होता है; क्योंकि उसने अपने

व्यष्टि 'कर्ता-भोक्ता' (शरीर, मन, इन्द्रियों के परिच्छिन्न एवं अनात्म अभिमान को) समष्टि 'कर्ता-भोक्ता' (विराट् परमात्मा) में मिलाकर एक कर दिया है।

वह बुद्धिमान् इसलिये है कि कर्म में भी अकर्म देखता है अर्थात् वह जगत को भी चेतन आत्मा यानी पूर्ण ब्रह्म के रूप में ही देखता है। तात्पर्य यह है कि कार्य को कारण से पृथक नहीं देखता। स्वर्ण व मृत्तिका में भूषण व घटवत् अपृथक देखता है। उसके विचार में तीन प्रकार के (संचित, क्रियमाण, प्रारब्ध) कर्म तथा उनके फल जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष इत्यादि केवल कल्पनामात्र, आरोपित, आकाश में नीलिमावत् हैं। परन्तु अन्य लोग ज्ञान-अज्ञान, बन्धन-मोक्ष, कर्म-फल, स्वर्ग-नर्क, सुख-दुःख, ईश्वर-जीव, जगद्-ब्रह्म आदि को अपने आत्मा या चेतन सत्ता से पृथक मानकर इससे मुक्त होने के लिये या अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के साधन करके बहुत ही दुःखी व व्याकुल होते हैं। इन सारी बातों को वह आत्मदर्शी केवल बालकों की क्रीड़ा ही समझता है। इसीलिए ऐसे कर्ता को बुद्धिमान् कहा है। वह किसी भी बात से कभी घबड़ाता नहीं।

उसे 'युक्त' भी कहा है। जैसे, घर नगर से, वृक्ष बाग से, पुष्प फुलवाड़ी से, बर्फ जल से, वस्त्र रुई से एवं प्रकाश सूर्य से त्रिकाल में भी कभी पृथक् नहीं हुए, उसी प्रकार ये मनुष्य, प्राणी-मात्र कभी भी उस सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म से पृथक् नहीं हो सकते। ऐसी दशा में संयोग-वियोग कैसा ? ये सब बातें केवल स्वप्नवत्

अभिनय मात्र हैं। ऐसा जानने के कारण ही वह मुक्त भी है।

वह अकर्म में कर्म कैसे देखता है? अकर्म कहते हैं कारणरूप चेतन सत्ता को और कर्म कहते हैं कार्यरूप शरीर व जगत को। कारणरूप चेतन सत्ता में कार्यरूप जगत या शरीर इत्यादि को जो सूर्य में प्रकाश तथा समुद्र में तरंगवत् एकरूप देखता है, वास्तव में वही युक्त व बुद्धिमान् मनुष्य, हर प्रकार के कर्म का कर्ता होते हुए भी, उनके बन्धन के भ्रम से मुक्त है। यहाँ एक दृष्टान्त दिया जाता है जिससे स्पष्ट होगा कि संचित, प्रारब्ध और आगामी कर्म केवल कल्पनामात्र हैं। यथार्थतः इन सब रूपों में केवल अपना आत्मा ही विलास कर रहा है।

दृष्टान्तः—चन्द्रप्रताप नाम का एक चक्रवर्ती राजा, जो राजा जनक की भाँति ही बड़ा विद्वान और चरित्रवान वेदान्ती था,—एक दिन गीता के इस श्लोक के ऊपर किसी महात्मा के साथ विचार कर रहा था—

'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'

अर्थात् ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा इसके तीनों प्रकार के कर्म दग्ध हो जाते हैं।

राजा ने कहा कि महाराज! यह ठीक है कि आत्मज्ञान हो जाने पर सञ्चित तथा आगामी कर्म तो अवश्य निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु प्रारब्ध कर्म तो भोग लेने से ही शान्त होते हैं। श्रुति भी इस बात को मानती है कि प्रारब्ध कर्म भोग लेने से ही शान्त

होता है। प्रत्यक्ष देखने में भी आता है कि ज्ञान हो जाने के पश्चात् भी सुख-दुःख भोगना ही पड़ता है। यदि ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म भी ज्ञान होने के पश्चात् समाप्त हो जाय, तब तो शरीर ही नहीं रह सकता। इसलिए बाध्य होकर मानना ही पड़ेगा कि प्रारब्ध कर्म ज्ञान हो जाने पर भी निवृत्त नहीं होता। अतएव गीता जो यह वाक्य कहती है कि 'ज्ञान के द्वारा सर्व (तीनों प्रकार के) कर्म नष्ट हो जाते हैं'—यह बात मेरी समझ में नहीं आती।

महात्मा ने कहा—राजन्! जिस प्रकार से वेदांत ने सारे जगत को मन की कल्पनामात्र बतलाया है, उसी प्रकार से प्रारब्ध कर्म का भोग भी, जगत के अन्तर्गत होने से, कल्पनामात्र ही है। श्रुति ने तो अज्ञानियों को समझाने के लिये प्रारब्ध कर्म के भोग को मान लिया है। पर यह उसका वास्तविक तात्पर्य नहीं है। देखो, जिस प्रकार आप स्वप्न देखते हैं, उस समय स्वप्न के सुख-दुःख को भोगने (अनुभव करने) के लिये शरीर नित्यंप्रति नवीन बन जाया करता है। जिस प्रकार से स्वप्न का शरीर एवं उसके प्रारब्ध आदि तीनों प्रकार के कर्म जाग्रत होते ही एक ही काल में निवृत्त हो जाया करते हैं। जाग्रत होने पर स्वप्न की कोई भी वस्तु देखने व अनुभव करने में नहीं आया करती। इसी प्रकार से इस जाग्रत अवस्था की सारी सृष्टि, अपने स्वरूप में जाग जाने पर, चेतन आत्मा में ही विलीन हो जाती है। यदि ज्ञान हो जाने के पश्चात् भी कोई प्रारब्ध कर्म व उसके भोग को मानता है, तो समझ लो कि अभी उसकी स्वरूप में स्थिति ही नहीं हुई। स्वप्न अवस्था

का कोई दुःख यदि जाग्रत अवस्था में भी प्रतीत हो रहा है, तो समझ लो कि वह अभी नींद में ही है और जागने का दृश्य भी स्वप्न में ही देख रहा है। कई बार स्वप्नकाल में ऐसा भी भान होता है कि मैं अब जाग्रत हो गया हूँ, किन्तु ऐसा जागरण भी स्वप्न ही होता है।

महात्मा के इस प्रकार समझाने पर भी राजा का सन्देह दूर न हुआ। तब महात्मा ने कहा कि अच्छी बात है, मैं इसी बात को अन्य प्रकार से आपको समझाऊँगा।

उसी दिन जब राजा अपने आनन्द-भवन में सो रहा था, तब देखा कि उसने एक ऐसे गरीब निर्धन के घर जन्म ले लिया है जिसके पास रहने के लिये केवल एक टूटी-फूटी झोंपड़ी ही है तथा खाने-पीने का भी कोई ठिकाना नहीं है। जब उस बालक की आयु १० वर्ष की हुई तो उसके माता-पिता भी मर गये। अनाथ होकर दीन-हीन हुआ वह लड़का बहुत ही रोने-चिल्लाने लगा। एक सेठ को उस पर बड़ी दया आई। उसने उस बालक को आश्वासन दिया कि तुम घबड़ाओ नहीं, हमारे संग चलो। हमारे यहाँ ही रहो, तुम्हें कोई कष्ट नहीं होने पावेगा। इस प्रकार से सेठ जी के यहाँ वह लड़का बड़ा होता रहा। जब उसकी आयु लगभग बीस वर्ष की हो गई तब किसी निर्धन गरीब कन्या के साथ उसका विवाह भी हो गया। जिस प्रकार उसका पिता टूटी-फूटी झोंपड़ी में रहता तथा मज़दूरी करता था, उसी प्रकार से वह भी झोंपड़ी बनाकर पत्नी सहित रहने लगा।

इसी भाँति रहते लगभग ३० वर्ष हो गये, किन्तु न तो उसके कोई सन्तान ही हुई और न दरिद्रता ही दूर हुई, वरन् दोनों पति-पत्नी रोगी रहा करते थे। एक दिन वे दोनों बहुत ही दुःखी होकर रो रहे थे कि क्या संसार की सारी आपत्तियाँ व दुःख विधाता ने केवल हमारे लिये ही बनाये हैं ? बाल्य अवस्था में ही माता-पिता मर गये। न खाने का ठिकाना, न पीने का, न वस्त्र का, न झोंपड़ी का। ओह ! हमने पूर्व जन्म में कितने महान् पाप किये हैं कि जिसका फल भगवान् हमें दे रहे हैं ! हम से बढ़कर संसार में और कोई भी दुःखी नहीं होगा।

वे इस प्रकार सोच-विचार कर ही रहे थे कि इतने में उनका एक मित्र आ गया। उनकी दर्द भरी कहानी सुनकर मित्र ने बहुत ही दुःख अनुभव किया और आश्वासन देते हुए कहने लगा कि आप घबराओ मत। दिल्ली में एक पण्डित हवेलीराम ज्योतिषी रहते हैं। उनके पास भृगुसंहिता है, जिसके द्वारा वे चार जन्म आगे तथा चार जन्म पीछे की दशा बतलाते हैं। आप उनके पास जाइये। देखें तो वे आपको क्या बतलाते हैं ? दरिद्र दम्पति ने कहा कि हमारे पास तो विष खाने के लिए भी एक पैसा नहीं है। ज्योतिषी की फीस २० रुपये हम कहाँ से देंगे ? तब मित्र ने कहा कि अच्छी बात है,—मैं कहीं से आपको २० रुपये उधार लाकर दूँगा।

उसने २० रुपये उन्हें लाकर दिये। तब उस दरिद्र पुरुष ने दिल्ली को पैदल ही प्रस्थान किया। वहाँ पण्डित जी के पास

पहुँचा, उनकी फीस २० रुपये सामने रक्खी एवं ज्योतिष लगाने के लिए प्रार्थना की। उन्होंने अपनी भृगुसंहिता खोली तथा उसके पिछले जन्मों का वृत्तान्त बतलाना प्रारम्भ किया कि आपने पूर्व जन्मों में बड़े-बड़े पाप किये हैं अर्थात् ब्रह्म हत्या, गौ हत्या, स्वर्ण चोरी, विश्वासघात, कृतघ्नता इत्यादि जो-जो भी जगत में महान् से महान् पाप हैं, वे सब आपने किये हैं। अतः इस जन्म में तो क्या, अभी आपको आठ जन्म तक इसी प्रकार से दुःख भोगना है।

इन बातों को सुनकर वह बहुत ही घबड़ाया और कहने लगा कि महाराज! किसी प्रकार से इसका प्रायश्चित भी हो सकता है? ज्योतिषी जी ने बतलाया कि प्रायश्चित्त में तो हजारों रुपये लगेंगे। आप प्रायश्चित्त कैसे कर सकते हैं? हाँ, एक मन्त्र आपको बतलाता हूँ। उसका एक लाख जप करने से वर्तमान दुःख कुछ कम हो जायगा।

मन्त्र का उपदेश लेकर वह वहां से चला और जब अपने ग्राम के निकट पहुंचा तो भूख-प्यास से अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। निकट ही एक बाग में कुएँ का पानी था, उससे प्यास बुझाई। वहीं एक महात्मा वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे। उसने जाकर महात्मा जी को नमस्कार किया तथा बैठकर रोने लगा। महात्मा जी उठकर बैठ गये और उसे रोते देखकर मुस्कराने लगे। इस बात को देखकर उसे और भी अधिक क्लेश हुआ और वह फूट-फूट कर जोर से रोने लगा।

महात्मा ने कहा—सुनाओ राजन्! आज तो आपने बहुत ही मनोरंजक स्वांग धारण किया है। कहिये, आज आपको क्या पुरस्कार दूँ।

यह सुनकर वह कहने लगा कि आज तक तो मैंने यही सुना था कि महात्मा लोग बड़े ही दयालु हुआ करते हैं, परन्तु आप में तो इतनी निर्दयता देखने में आ रही है! आपको तो मेरी इस दीन-हीन दशा पर तरस खाकर शान्ति का उपदेश करना तथा आशीर्वाद देना चाहिये जिससे मेरे दुःख में कुछ कमी होती! इसके विपरीत आप तो हँसी कर रहे हैं।

महात्मा ने कहा कि मैंने तो प्रथम ही आप से कह दिया कि आज के आपके अभिनय को देखकर मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ, इसलिए जो कुछ इनाम मांगो, मैं देने के लिए प्रस्तुत हूँ। फिर मेरी निर्दयता कैसी? उसने कहा कि महाराज! आप तो बार-बार स्वांग धारण करने की बात कह रहे हैं। इससे तो यदि मेरी मृत्यु ही हो जाती तो मैं इस महान् नरक से तो छुट जाता। आपकी यह हँसी की बात मेरी समझ में नहीं आ रही। महात्मा ने उत्तर दिया कि मेरी बातों को बिना जागे समझ ही कैसे सकते हो? उसने कहा कि महाराज! मैं क्या सो रहा हूँ? महात्मा ने कहा कि हाँ, यदि सोये न होते तो पण्डित हवेलीराम के पास धक्के क्यों खाते?

उसने कहा कि अरे महाराज जी! यदि आपको मेरे दुःख का पता होता तो कदापि ऐसी निर्दयता की बातें न करते।

महात्मा ने कहा कि पता है, तभी तो कह रहा हूं कि आप राजा चन्द्रप्रताप अपने आनन्द-भवन में बड़े ही चैन से सो रहे हैं। आपका गरीब के घर जन्म लेना, बाल अवस्था में ही अनाथ हो जाना, किसी सेठ का कृपा-पात्र बनना, किसी निर्धन दरिद्री कन्या के साथ विवाह होना, सन्तानहीन होना, दोनों का सदा रोगी रहना, मित्र से बीस रुपये लेकर पण्डित हवेलीराम के पास जाना और अपने अगले-पिछले जन्मों व कर्मों का पता लगाना, घोर पाप कर्मों के फल को अवश्य भोगना, उसका किसी भी प्रकार से प्रायश्चित्त न हो सकना, फिर निराश होकर भूखे-प्यासे यहाँ आना तथा मुझसे वार्तालाप करना, तुम्हारा यह चिथड़ों में लिपटा हुआ कर्मों का कर्ता-भोक्ता रोगी शरीर तथा मेरा शरीर इत्यादि जो कुछ भी जन्म से लेकर अब तक अनुभव कर रहे हो,—यह सब तीन प्रकार के कर्म तथा उनका फल, आपने एक ही काल में बिना किसी कारण और कर्म इत्यादि के क्षण-मात्र में अपने संकल्प से ही रच लिया है। इस समय द्रष्टा-दर्शन-दृश्य, कर्ता-कर्म-क्रिया, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय इत्यादि जितना भी त्रिपुटीरूप जगत प्रपंच है, जिसका आप प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं, यह सब आपका ही संकल्पमात्र है।

राजा ने कहा कि नाना प्रकार के जिन कर्मों और उनके फल सुख-दुःखों को मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ,—उसे आप स्वप्न व मन की कल्पना कह रहे हैं? आपकी यह बात सच्ची कैसे मान लूँ?

महात्मा ने कहा कि मैंने तो प्रथम ही आप से कह दिया कि बिना जागे मेरी बातों को कदापि सत्य नहीं मान सकते हो। जिस प्रकार किसी को यदि दिग्भ्रम हो जाय तो फिर उसे चाहे कितना भी समझाया जाय कि,—देखो, जिस ओर से सूर्य उदय होता है, वह पूर्व है और जिस ओर अस्त होता है वह पश्चिम है,—परन्तु वह स्वयं समझने के बजाय उल्टा समझाने वाले से ही कहता है कि श्रीमान् जी ! जो कुछ आप कह रहे हैं, यह सब 'गुर' मैं पहले से स्वयं ही जानता हूं। सारी बातें जानते हुए भी, बिना स्वयं अनुभव किये, उसके दिग्भ्रम की निवृत्ति कदापि नहीं हो सकती।

इसी प्रकार से स्वप्नावस्था में किसी को कितना भी समझाया-बुझाया जाय कि आप स्वप्न देख रहे हैं, पर वह इस बात को कदापि सत्य नहीं मान सकता जब तक कि उसका मन जाग्रत अवस्था में न आ जाय। इसलिये सावधान हो जाइये, अब मैं आपको जगाता हूं। परन्तु इस बात का सदा के लिए निश्चय कर लें कि यह जो आपका दीन-हीन, दुःखी, चिथड़ा लिपटा शरीर है,—जिसकी उत्पत्ति व सुख-दुःख भोगने में आप प्रारब्ध कर्म को हेतु मानते हैं और यह भी निश्चय कर चुके हैं कि प्रारब्ध कर्म बिना भोगे निवृत्त होता ही नहीं,—आपका वही शरीर और आपके संकल्प से उत्पन्न हुआ इसका कारण प्रारब्ध क्षणमात्र में फिर उसी संकल्प में लीन होने जा रहा है। फिर न कहना कि इस शरीर का प्रारब्ध कर्म भोग से ही निवृत्त होता है।

इतना कहकर वहीं पड़ी हुई एक लाठी को उठाकर उसके सिर पर जोर से खींचकर मारा। लाठी लगते ही वे चौंक पड़े और देखा कि वह महा दीन-हीन दुःखी शरीर और उसके समस्त (तीनों) कर्म अर्थात् कारण-कार्य सहित शरीर एवं प्रारब्ध सब जाग्रत होते ही समाप्त हो गये। तब केवल दृष्टा ही शेष रह गया और समस्त कार्यवर्ग उसी में विलीन हो गया। तब राजा को इस बात का पूर्ण रूप से निश्चय हुआ कि कर्म व शरीर इत्यादि सम्पूर्ण जगत प्रपंच संकल्पमात्र या सर्वदृष्टा चेतन स्वरूप ही है।

शून्य (०) या ज़ीरो स्वयं अपने आप कुछ भी नहीं, किन्तु जब इसका सम्बन्ध किसी अंक (१,२,३,४ आदि) के साथ होता है, तब इसकी संख्या लाखों-करोड़ों तक होती जाती है। जब यही शून्य किसी अङ्क के बाईं ओर रखते जावें तो संख्या वही रहेगी,–तब शून्य का कोई भी महत्व न रहेगा। ठीक इसी प्रकार से कर्म स्वयं शून्य रूप है, किन्तु उसी कर्म का सम्बन्ध जब किसी देहात्म-वादी अज्ञानी के साथ हो जाता है, तो कर्म का फल बढ़ता ही जाता है। जब उसी कर्म का सम्बन्ध किसी तत्त्ववेत्ता आत्मवादी के शरीर व मन इन्द्रियों से होता है तो वही कर्म फल व भोग से रहित हो जाता है अर्थात् ज्ञानवान का किया हुआ कर्म अकर्म रूप हो जाता है।

अब इसका चित्र भी देख लीजिये—

कर्म का स्वरूप

तत्त्ववेत्ता का कर्म	अज्ञानी का कर्म
००००० १	१०००००

इसी प्रकार से आकाश में दो प्रकार के शब्द होते हैं,—एक वह शब्द जो किसी-न-किसी रिकार्ड में कैद हो जाता है और दूसरा वह जो स्वतन्त्र ही रहता है। रिकार्ड किया हुआ शब्द जब भी ग्रामोफोन पर चढ़ाया जायगा, तभी ज्यों-का-त्यों बाहर निकलेगा।

इसी प्रकार देहाभिमानी अज्ञानी के द्वारा किया हुआ कर्म उसके सूक्ष्म शरीर में रिकार्ड हो जाया करता है जो स्थूल शरीर-रूपी मशीन का सम्बन्ध होते ही सुख-दुःख के भोग का कारण बन जाया करता है। परन्तु ज्ञानियों का कर्म स्वतन्त्र रहता है। उनका कर्म किसी भी प्रकार से रिकार्ड अर्थात् बन्धन का हेतु नहीं हो सकता। कर्म स्वतः किसी के बन्धन या दुःख का हेतु नहीं होता किन्तु जगत में किसी के भी बन्धन, दुःख, अशान्ति तथा विक्षेपादि का कारण केवल उस की आसक्ति एवं ममता ही होती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को इन से ही बचना चाहिये। ये दोनों दीर्घ भ्रमरोग स्वरूप में स्थित होने से ही निवृत्त होते हैं।

धर्म का वास्तविक स्वरूप

'धर्म' शब्द 'धृ' (धारणे) धातु से 'मन्' प्रत्यय लगकर बनता है, जिसका अर्थ होता है 'धारण करना'। प्रत्येक शब्द के दो अर्थ हुआ करते हैं,—आधिभौतिक (स्थूल) तथा आध्यात्मिक (सूक्ष्म) अथवा शब्दार्थ और भावार्थ। इसी के अनुसार धर्म शब्द का भी दो प्रकार का अर्थ हो सकता है। धर्म शब्द का आधिभौतिक अर्थ यह हो सकता है कि जिस धर्म को धारण यानी पालन किया जाय; जैसे—सामाजिक नियम अथवा राष्ट्र का शासन-विधान या कानून होते हैं। इसी सामाजिक-नियम (शासन विधान) को ही आधिभौतिक धर्म या असाधारण (विशेष) नियम भी कहा जा सकता है जो कि देश-काल की परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर परिवर्तित होता रहता है। इसका विचार विशेष रूप से आगे किया जायगा। अभी धर्म के आध्यात्मिक अर्थ का विचार किया जाता है।

'धर्म' शब्द के विषय में ऊपर कहा जा चुका है कि जिसे धारण (पालन) किया जाय, वह तो आधिभौतिक धर्म हुआ। इसके अतिरिक्त धर्म शब्द का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि जो सर्व नाम-रूपात्मक चराचर जगत को धारण कर रहा है। वह

प्राकृतिक नियम यानी सामान्य धर्म है जिसे प्रत्येक देश, समाज, जाति व सम्प्रदाय के मनुष्यमात्र को एक जैसा पालन (धारण) करना ही पड़ता है। जैसे रात्रि-दिन, सर्दी-गर्मी, वर्षा-बसन्त, जन्म-मरण, खाना-पीना, मलमूत्र त्यागना, सुख-दुःख भोगना, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध, सन्तानोत्पत्ति, देखना-सुनना, बोलना-चालना, भूख-प्यास लगना, हँसना-रोना, सोना-जागना, काम करना, संकल्प-विकल्प करना, श्वास लेना इत्यादि जितने भी शारीरिक वा मानसिक धर्म व कर्म हैं, जिन्हें प्रत्येक शरीरधारी मात्र के लिये पालन करना अनिवार्य है,—इन्हें प्राकृतिक (स्वाभाविक) धर्म कहते हैं।

अब इसके अतिरिक्त स्वाभाविक धर्म की दूसरे प्रकार से व्याख्या की जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि जो सर्व को धारण करे उसे धर्म कहते हैं। सारे चराचर जगत को कौन धारण कर रहा है? वही,—सच्चिदानन्द, पूर्ण ब्रह्म चेतन, सर्व का अपना आप आत्मा जिसे दूसरे शब्दों में ज्ञानशक्ति वा क्रियाशक्ति भी कह सकते हैं। इसी को दार्शनिक विद्वानों ने पुरुष वा प्रकृति, चेतन वा जड़ शक्ति के रूप में कथन किया है। सूक्ष्म रूप से निमित्त वा उपादान कारण रूप में ओतप्रोत है। वे दोनों स्वरूप से अभिन्न हैं, परन्तु कार्य रूप से या क्रिया भेद से दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इन्हीं दोनों शक्तियों को अभेद रूप से अपना आत्मा अथवा सारे चराचर जगत में पूर्ण अनुभव करने के लिए ही 'धर्म' के आध्यात्मिक अर्थ का तात्पर्य है जिसका अन्वेषण मनुष्य-जन्म

से ही प्रारम्भ हो जाता है। इसलिये सबसे प्रथम इस बात का विचार करना परमावश्यक है कि धर्म का प्रादुर्भाव कहाँ से और क्यों होता है ? इसी (धर्म) को रिलीजन, मार्ग, साधन, सम्प्रदाय, मज़हब आदि भी कहा जा सकता है जिसका प्रादुर्भाव मनुष्य के जन्म से ही होता है।

संसार की अनित्यता, क्षणभंगुरता या प्राणीमात्र की मृत्यु इस धर्म के प्रादुर्भाव का कारण है। यह मनुष्य अपने जीवन-पर्यन्त इस बात का अनुभव करता है कि यह सारा जगत क्षण-क्षण में बदलता जा रहा है तथा प्राणीमात्र नित्यंप्रति मृत्यु को प्राप्त होते जा रहे हैं,—स्थायी (स्थिर) कुछ भी देखने में नहीं आ रहा है। क्या कोई स्थिति या तत्त्व या स्थायी सुख-शान्ति यानी सत्य भी है या मरुभूमि में जलाभासवत् या स्वप्न-सृष्टिवत् सारा समाप्त ही होता जा रहा है ? इस प्रकार का प्रश्न मनुष्य के मन में स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार के प्रश्न का विचार ही धर्म की उत्पत्ति में हेतु (कारण) है। इसलिए मानवमात्र के जन्म से ही धर्म का अन्वेषण प्रारम्भ किया जाता है।

माता के गर्भ से बाहर आते ही बच्चा रोने क्यों लगता है ? यह एक बड़े रहस्य का विषय है जिसका समझना परमावश्यक है। माता के गर्भ में वह एक ऐसी विशेष स्थिति में होता है जहां न अपना है न पराया, न अनुकूल है न प्रतिकूल, न राग है न द्वेष, न सुख है न दुःख, न बन्धन है न मोक्ष, न ज्ञान है

न अज्ञान, न नाम है न रूप, न शोक है न मोह, न शान्ति है न अशान्ति। कहने का तात्पर्य यह है कि विक्षिप्त व क्षुब्ध करने वाला किसी भी प्रकार का जगत प्रपंच वहां है नहीं। वह एक तुरीयातीत या निर्विकल्प-समाधि की अवस्था में स्थित था। ऐसी परम शान्त अवस्था को त्यागकर उदर से बाहर आते ही नाना प्रकार का नाम-रूपात्मक जगत-प्रपंच देखकर वह घबड़ा जाता है और भयभीत होकर रोने लगता है कि 'अब क्या होगा ?' जैसे उत्तराखण्ड की किसी कन्दरा में कोई पूर्णयोगी निर्विल्प समाधि में स्थित हो और अचानक किसी कारण से बलात् समाधि से उत्थित होकर उसे बाहर निकलना पड़े। वह बाहर निकलते ही देखे कि बड़ा ही कोलाहल मच रहा है तो ऐसी परिस्थिति को वह योगी सहसा सहन नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार से प्रत्येक बालक की दशा हुआ करती है। वह परम शान्त अवस्था से नीचे गिरा दिया जाता है और अपनी खोई हुई स्थिति के लिये तपड़ने तथा रोने लगता है।

मनुष्य यहीं से धर्म यानी खोई हुई शान्ति वा आनन्द के साम्राज्य को खोजने लगता है जिसकी पूर्ति, सन्तुष्टि, सान्त्वना, एवं मनोरंजन के लिये जीवन-पर्यन्त नाना प्रकार के नये से नये उपचार किये जाते हैं। जब तक अपना खोया हुआ स्वत्व पूर्ण-रूपेण पुनः प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक किसी भी प्रकार से उसे सन्तोष नहीं होता। चाहे सारे विश्व के सम्राट् का पद ही क्यों न प्राप्त हो जाय, फिर भी कमी पूरी नहीं होती। निरन्तर

कमी की प्रतीति होती ही रहती है। किसी चक्रवर्ती का राज्य छीन लिया जाय और उसके बदले में उसे एक गांव दे दिया जाय तो भला इससे कहीं उसे सन्तोष हो सकता है ? यही दशा इस शरीरधारी सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा की है। कहां तो असंख्य ब्रह्माण्डोंका नायक,—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्रों का कारणरूपसे महासम्राट्, शासक वा नियामक और कहां कार्यरूप से महा दीन, हीन, दुःखी, अशान्त, परिच्छिन्न, क्षण-क्षण में परिवर्तनशील व नाना प्रकार के रोगों और मृत्यु से ग्रस्त यह साढ़े तीन हाथ का शरीररूपी जेल कि जिस पर पूर्णरूप से कोई अधिकार नहीं। यह नाना प्रकार के अनात्मक उपचार इस के लिये सन्तोषजनक व शान्तिप्रद भला कैसे हो सकते हैं ? इसीलिये यहीं से 'धर्म' प्रारम्भ होता है।

गर्भ से बाहर आते ही जीव अपने स्वात्मानन्द के सिंहासन पर पुनः आरूढ़ होने के लिये चिन्तित रहता है जिसको वह भ्रम से खोया हुआ मानता है। वास्तवमें तो वह उस सिंहासनसे तिलभर भी नहीं हटा है, अपने उसी कारण स्वरूप में ही स्थित है। जैसे कोई सम्राट् अपने राज्य सिंहासन पर विराजमान होता हुआ भी निद्रादोष से भिखारीपने का अनुभव करता है और बहुत व्याकुल वा दुःखी होता है। जब तक वह जागता नहीं तब तक शोक सन्तापसे भी मुक्त नहीं होता क्योंकि जाग्रत अवस्थाका भोजन स्वप्नावस्थाकी क्षुधाको कभी निवृत्त नहीं कर सकता। इसीलिये माता के दूध पिलाने से, नाना प्रकार के

खिलौनोंसे, नाना प्रकारकी विद्या पढ़कर बहुत विद्वान् हो जाने से, नाना प्रकारकी छोटीसे लेकर बड़ीसे बड़ी नौकरी करने से, नाना प्रकारके व्यापार इत्यादि साधनोंके द्वारा बहुत धन एकत्रित करने से, सुन्दर से सुन्दर रमणियों के साथ विवाह करके बाल बच्चे पैदा करनेसे, रहनेके लिये नाना प्रकारके सुन्दरसे सुन्दर विशाल भवन निर्माण करनेसे, अधिक-से-अधिक मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने से, नाना प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने से अथवा भौतिक ज्ञान आदि किसी भी उपचारके द्वारा जीवन पर्यन्त इसका रोना बन्द नहीं होता। ये सब साधन तो राज्यच्युत सम्राट् को एक गांव वापस करनेके बराबर ही हैं। पर वास्तवमें तो वह किंचिन्मात्र भी अपने स्वात्मानन्दके सिंहासनसे च्युतही नहीं हुआ है। इस विषय पर एक दृष्टान्त दिया जाता है।

दृष्टान्त:—एक स्वत:प्रकाश नाम का राजा किसी देश में राज्य करता था। राजा बड़ा ही धर्मात्मा, विद्वान, सत्संगी व प्रजा-पालक था। सभा के कार्य से निवृत्त होकर रात्रि को दस बजे के लगभग किसी-न-किसी विद्वान पण्डित के द्वारा नित्यं-प्रति किसी-न-किसी शास्त्र की कथा हुआ करती थी। एक बार राजा के पास एक बड़े ही विद्वान व ज्ञानवान् महात्मा आये और लगभग एक मास ठहरे। नित्यंप्रति महात्मा जी का वेदान्त विषय पर उपदेश हुआ करता था। एक दिन महात्मा ने जगत् के स्वरूप की व्याख्या प्रारम्भ की कि यह जगत स्वप्नवत् अनहुआ ही बिना किसी देश, काल एवं साधन के प्रतीत हो रहा है। यह

बात सुनते ही राजा चौंक पड़ा और बोला कि यह असम्भव बात आप कैसे कह रहे हैं ? यह जगत, जिसे सारे विश्व के करोड़ों मनुष्य हमेशा से सत्य मानते आ रहे हैं, जिसमें हर प्रकार की वस्तुएँ और देश, काल व कारण-कार्य युक्त सब कुछ सत्य है,— उसे आप झूठा कह रहे हैं ? यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही।

महात्मा ने बहुत कुछ समझाने का उपाय किया कि जिस प्रकार से स्वप्न अवस्था की सारी सृष्टि कारण-कार्य व देश-काल सहित वस्तु रूप से सत्य ही प्रतीत होती है, परन्तु वहाँ केवल एक स्वप्नद्रष्टा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता। वह द्रष्टा ही अपने आपको सृष्टि के रूप में देखता है। वही उस स्वप्न जगत में कारण, कार्य, देश, काल, कर्म, फल, शत्रु, मित्र, जन्म, मरण, सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान, बन्धन, मोक्ष, जीव, ईश्वर, अपना, पराया इत्यादि नाना प्रकार के रूप धारण कर लेता है।

यदि उस समय वह स्वप्न द्रष्टा अपने आपको किसी नदी में डूबता हुआ अनुभव कर रहा हो, रक्षा के लिए चिल्ला रहा हो, और उसी समय कोई वहाँ जाकर यह कहने लगे कि भाई साहब, आप तो अपने घर में अपने बिस्तरे पर बड़े आनन्द के साथ सोये हुए हैं। यह नदी, डूबना, डूबने वाला, यह शरीर और डूबने का यह कष्ट तथा सत्य बात समझाने वाला मैं,—यह सारा प्रपंच आपने एक ही क्षण में बिना किसी

कारण व देश, काल के रच लिया है। इसलिये, जागो-जागो! देखो कि आप कौन हो और कहाँ हो?

स्वप्नद्रष्टा इस बात को कदापि सत्य मानने के लिये तैयार नहीं क्योंकि डूबने का अनुभव उसे प्रत्यक्ष हो रहा है। उसी समय यदि उसके पास कोई नौका लेकर जा पहुँचे और उसका हाथ पकड़ के नौका में बिठा कर किनारे छोड़ देवे तो इस प्रकार के साधन से वह अपनी रक्षा मानता है। यह भी एक प्रकार से है तो स्वप्न ही, किन्तु ऐसी परिस्थिति उसके लिये प्रिय है। यदि कोई दूसरा उसी डूबते हुए के ऊपर पत्थरों द्वारा प्रहार करने लग जाय तो यद्यपि ऐसी परिस्थिति उसके लिये महा भयंकर है, तथापि सारे कष्टों से मुक्त हुआ तत्क्षण ही वह अपने बिस्तरे पर अपने आपको जागा हुआ अवश्य पायेगा।

इसी प्रकार से, हे राजन्! अभी कितना भी आपको समझाने का उपाय करूँगा, परन्तु आप कदापि इस प्रत्यक्ष प्रतीत होते हुए जगत को, जो कि विना देश काल के, व बिना किसी कारण-कार्य के, अनहुआ ही अपने संकल्प से रच लिया है, असत्य मानने के लिये तैयार नहीं होंगे। यदि कोई दूसरा रोचक या भयानक वाक्यों के द्वारा आपको नाना प्रकार का योग, जप, तप, ज्ञान, ध्यान, भक्ति इत्यादि साधन बतलाकर कहे कि इसके द्वारा आपका सारा कष्ट अवश्य निवृत्त हो जायगा, तब आप नौकावत् उसकी बात सच्ची मानकर अवश्य वैसा करना आरम्भ कर देंगे।

किन्तु इन उपचारों से वास्तव में आपका स्वप्न जगत तब तक निवृत्त नहीं होगा, जब तक कि आपके ऊपर वेदान्त के सदुपदेश महावाक्य रूपी पत्थरों की बौछार न होगी, जैसा कि मैं कर रहा हूं।

इतना कहने पर भी राजा का संशय उसी प्रकार से बना ही रहा और वह यही कहता रहा कि मैं जगत को कभी भी अपने मन की कल्पना मानने के लिये तैयार नहीं हूं।

महात्मा ने अपने मन में विचारा कि अब इसको और प्रकार से समझाऊँगा। इतने में सीमा की ओर से एक दूत ने आकर राजा को एक पत्र दिया। राजा ने उस पत्र को पढ़ा, जिसमें लिखा हुआ था कि दूसरे देश का राजा अपनी सेना को राज्य की सीमा के निकट इकट्ठी कर रहा है। इसलिये आपको भी पहले से ही अपना ठीक-ठीक प्रबन्ध रखना उचित है। अस्तु !

रात्रि के साढ़े ग्यारह बज चुके थे, इसलिये सभा विसर्जन कर दी गई। सब उठ-उठ कर अपने-अपने विश्राम स्थान को चले गये। राजा भी जाकर अपने आनन्द-भवन में पलंग पर लेटा। प्रथम तो महात्मा जी ने जो उपदेश किया था, उस पर विचार करता रहा। पश्चात् चिट्ठी वाले विषय पर विचार प्रारम्भ किया कि कहाँ-कहाँ की सेना सीमा पर भेजनी है। यही बात सोचते-सोचते कुछ नींद-सी आने लगी तो क्या देखता है कि दूसरे राजा ने बड़े ही दल-बल से बहुत बड़ा आक्रमण कर दिया है और वह बढ़ता ही चला आ रहा है। वह इसके राज्य में काफी

अन्दर तक घुस आया है और इसकी सारी सेना मार खाकर पीछे हटती आ रही है।

जब इस को इस बात का पता चला तो जहाँ-जहाँ जितनी सेना बची हुई थी, सबको एकत्रित करके इसने भी उसी युद्धक्षेत्र पर धावा बोल दिया और जाकर शत्रु के मुकाबिले में भिड़ गया। फिर क्या था, रणक्षेत्र की चण्डी नृत्य करने लगी तथा लोथों (मृतक शरीरों) का ढेर लग गया। रक्त की नदी बह निकली, फिर भी शत्रु का पैर पीछे न हटा, आगे ही आगे बढ़ता रहा। तब इस राजा ने बहुत जोर से सिंहनाद करके अपनी सेना को ललकारा--'खबरदार ! पीछे कदम मत हटाओ, आगे बढ़ो, आगे बढ़ो !'

इसी प्रकार से निरन्तर चार दिन तक बड़ा भयंकर युद्ध होता रहा। अन्त में इस राजा की सेना बहुत मारी जा चुकी थी। शेष सिपाही घायल होकर भागने लगे। इतने में शत्रु की ओर से एक तीर ऐसा सनसनाता हुआ आया कि स्वतःप्रकाश राजा की छाती को आर-पार कर गया और राजा मूर्छित होकर नीचे गिर गया। रात्रि हो चुकी थी। लगभग बारह बजे राजा की मूर्छा खुली तो उस समय युद्ध समाप्त हो चुका था। राजा ने फौरन उठकर अपने सारे वस्त्रों को उतार कर फेंक दिया और किसी सिपाही की धोती बाँध ली। घाव के ऊपर भी एक धोती बाँधकर वह वहाँ से भागा। रात्रि भर चलते-चलते कुछ प्रकाश

होना प्रारम्भ होने लगा। कुछ पक्षियों के बोलने के शब्द भी सुनाई देने लगे। अब राजा की जान में जान आई।

कुछ और आगे पैर बढ़ाये तो राजा को एक वाटिका दीख पड़ी। राजा ने बाग के भीतर प्रवेश किया तो आगे जाकर देखा कि एक मन्दिर है और उसके सामने एक चत्वर (चबूतरा) बना हुआ है। उसके निकट ही एक कूप है और चबूतरे के ऊपर एक चटाई बिछी हुई है, जिस पर एक महात्मा बैठे हुए कोई पुस्तक विचार रहे हैं। जब निकट जाकर देखा तो वह महात्मा अपने परिचित ही निकले। राजा प्रसन्न हुआ कि अब मुझे यहाँ कुछ आराम मिलेगा। राजा ने जाकर महात्मा को नमस्कार किया और महात्मा ने उसे प्रेम से बैठाया। महात्मा जी मुस्कराकर बोले कि सुनाओ राजन्! आज तो आपने अच्छा स्वांग धारण किया है। आइये, आपको कुछ ज्ञान-ध्यान की बातें सुनाऊँ।

राजा ने कहा—महाराज! आप स्वांग कहते हैं? आज संसारमें मुझसे बढ़कर कौन दुखिया होगा? मेरा सारा राज्य गया, सारे कुटुम्ब-परिवार और विभूतिका नाश होगया, सारी सेना मारी गई, मेरा शरीर घावोंसे छलनी होरहा है। आज एक सप्ताहसे न कुछ खाया न कुछ पिया! मारे भूखके तड़प रहा हूँ, इसलिये ज्ञान-ध्यान सुनानेके बजाय पहले दो रोटी खानेको दीजिये।

महात्माजी ये सारी बातें सुनकर खिलखिलाकर हँस पड़े। साथही साथ कहने लगे कि हे राजन् स्वतःप्रकाश! न तो तेरा

राज्य किसीने हरण किया है और न कोई तेरी सेनाही मारी गई है। न तेरे शरीरमें कहीं कोई घाव ही है और न तुझे भूख-प्यास ही है। तूने विनाही किसी देश, काल व कारणके क्षणभर में अपने संकल्पसे यह सब केवल एक नाटक रच लिया है। तू इस समय अपने आनन्द भवनमें पलंगपर बड़े सुखपूर्वक सोया हुआ यह स्वप्न देख रहा है।

राजा महात्माकी ऐसी बातें सुनकर बड़ा ही दुःखी हुआ और कहने लगा—हे महात्मन्! क्या भूल गये कि जिस समय आप हमारे यहां एक मास ठहरे थे, मैंने कितनी सेवा की थी! आज हमारे ऊपर आपत्ति आगई है तो ज्ञान की बातें सुना रहे हैं तथा जिन बातों को मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूं उन्हें मनकी कल्पना बताकर मेरा उपहास कर रहे हैं? एक महात्माके लिये इतनी निर्दयता उचित नहीं। बस, अब जल्दी कीजिये। मुझसे अब बोला नहीं जाता। भूखके मारे प्राण निकल रहे हैं,—शीघ्र ही दो रोटी दीजिये।

महात्माजी इस बातको सुनकर फिर मुस्कराकर बोले—जो कुछ मैं कह रहा हूँ, बिल्कुल सत्यही कह रहा हूँ। परन्तु आप जबतक जागेंगे नहीं, तब तक मेरी बात कभीभी सत्य नहीं मानेंगे।

राजाने कहा—यह मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूं कि आप बैठे हैं और मुझसे बातें कर रहे हैं। यह मन्दिर, बाग, कुआँ इत्यादि सब प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ, तब मैं आपकी बात कैसे सत्य मान लूं कि मैं स्वप्न देख रहा हूं? यह नितान्त आँख में धूल झोंकना है।

महात्माने कहा—हाँ, मैं बिल्कुल यथार्थ कह रहा हूं कि न मैं हूँ और न बाग, कुआँ, मन्दिर और पुस्तक ! आपका यह भूखा-प्यासा शरीर इत्यादि जो कुछभी आप देख रहे हैं,—यह सब केवल आपके मनकी कल्पनामात्र ही है, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है।

इतना सुनतेही राजाको बड़ा क्रोध आगया। उसने झट उठकर महात्माकी पुस्तक पकड़ ली और कहने लगा कि जितने भी वेदान्तके पढ़नेवाले होते हैं, सबके सब पागल होते हैं। इन लोगोंकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। ला, मैं तेरी इस पुस्तकको अभी इसी कुए में डालता हूँ जिससे फिर किसीको ऐसा धोखा न दे सके। इतना कहते हुये राजा पुस्तकको ज़ोरसे खींचने लगा।

महात्माजी अन्त में फिर मुस्कराकर बोले—अरे मूर्ख ! तू अभी मेरी बातोंको झूठी ही मान रहा है परन्तु जागकर इसपर पश्चात्ताप करेगा और सोचेगा कि वास्तवमें जैसे यह स्वप्न-सृष्टि कुछ नहीं, केवल इसका द्रष्टा ही सत्य है, बाकी सब प्रपंच कल्पनामात्र है। इसी प्रकारसे जाग्रत अवस्थाकी सृष्टिभी केवल द्रष्टा अर्थात् चेतन रूपही है। उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है।

इतना कहकर महात्माने पुस्तक छोड़ दी। राजा ज्यों ही झटका खाकर पीछे गिरा कि सिर में चोट लगते ही चौंक पड़ा। तब क्या देखता है कि न तो कोई महात्मा है, न कहीं कोई बाग, कुआँ या मन्दिर ही है और न भूखा-प्यासा घावयुक्त वह शरीर ही है कि जिसके द्वारा वह नाना प्रकारके दुःखका अनुभव कर

रहा था। करवट लेते समय सिर पलंगके पायेके साथ टकरा गया था, इसलिये नींद खुल गई। जब घड़ी पर दृष्टि गई तो देखाकि अभी लेटे हुए केवल आधा घंटा ही हुआ था। राजा उठकर बैठ गया और आश्चर्यके समुद्रमें डूब गया। कुछ देरके पश्चात् सोचने लगा कि ओह! बड़े आश्चर्य की बात है कि मैंने आधे घंटे में ही क्या-क्या अनुभव कर लिया? क्या यही दशा इस जाग्रत संसारकी भी है? स्वप्नावस्था में तो मैं किंचित् मात्र भी यह बात माननेके लिये तैयार नहीं था कि वह प्रत्यक्ष सत्य अनुभव होनेवाला जगत केवल कल्पना या स्वप्नमात्र ही था। इस बातका यथार्थ बोध तो जाग्रत होने पर ही हुआ कि वह केवल कल्पना मात्रही था। यही दशा इस जाग्रत-जगत की भी है जिसे हमलोग सत्य मानकर नाना प्रकारके अनर्थ करने लग जाते हैं।

यह मनुष्य जिसके द्वारा नौकावत् भवसागरसे पार हो जाया करता है, उसीका नाम वास्तविक धर्म है। धर्म नाना प्रकारके दुखों, विक्षेपों व चिन्ताओं से पार करनेके लिये हुआ करता है,—मुर्दाकी भांति सिर पर रखकर सारी आयु घसीटनेके लिये नहीं हुआ करता। इसलिये जिन कपोल-कल्पित धर्मोंमें नौका की सी शक्ति नहीं है, केवल भार रूपही हैं, उन्हें तिलांजलि दे देनी चाहिये।

प्रथमही निवेदन कर चुका हूँ कि धर्म (नियम) दो प्रकारके होते हैं। उनमें से एक की व्याख्या हो चुकी। इसीको 'प्राकृतिक-धर्म' कहा गया है। अब दूसरे सामाजिक की व्याख्या की

जाती है। यह धर्म प्रत्येक देश, समाज, जाति, सम्प्रदाय या वर्णाश्रम इत्यादि में विभिन्न है। पाशविक प्रकृति अथवा मूर्खता-वश ही नाना प्रकारके मतभेद, कलह, विद्वेष, संघर्ष, रक्तपात हुआ करते हैं। वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो किसी विशेष देश, काल अथवा परिस्थतिके अनुसारही समाजके संगठन, नियमन, अनुशासन तथा शान्ति-स्थापन के लिये विद्वान् एवं बुद्धिमान लोग आपसमें मिलजुलकर सामाजिक धर्मको स्थापन कर लिया करते हैं। देश-कालकी परिस्थितिके अनुसार समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। ऐसे कृत्रिम मनुष्यकृत नियम को स्थायी या ईश्वरीय-धर्म मानकर जो लोग परस्पर में नाना प्रकार के द्वन्द्व-युद्ध किया करते हैं, उन लोगोंको केवल धर्म-द्रोहीके अतिरिक्त धर्मात्मा या मनुष्य नहीं कहा जा सकता। प्रायः कोई भी धर्मावलम्बी, अपने धर्माचार्योंकी पुस्तकोंको प्रमाण रूपसे मानते हुए भी उसे व्यवहारमें नहीं लाता। किसी धर्मग्रंथमें यह बात कहीं नहीं लिखी कि निर्दोष प्राणियोंके ऊपर नाना-प्रकारका अत्याचार या अन्याय किया जाय तथा सदा एक-दूसरेके शत्रु बनकर परस्पर नानाप्रकार की लड़ाई-झगड़ा किया करें। यदि इस प्रकारके अनर्थ करनेके लिये कहीं लिखा हुआ भी हो तो समझलो कि वह किसी प्रकार का कोई भी धर्म नहीं है, किन्तु किसी स्वार्थी नराधमका लेखमात्र है।

प्राकृतिक एकता का स्वरूप

इस अकृत्रिम वा स्वाभाविक एकता का भी मनुष्यमात्र के जन्म से ही दिग्दर्शन कराया जाता है। स्त्री-पुरुष के संयोग से रज-वीर्य मिलकर सप्त धातुओं से युक्त होकर जिस मार्ग से हम लोग जन्म लेते हैं, उसी प्रकार से और उसी मार्ग से सारे संसार के मनुष्यमात्र या प्राणीमात्र भी जन्म लेते हैं। जिस प्रकार से बाहर निकलकर माता के स्तनों द्वारा मुँह से दूध हम लोग पीते हैं, उसी प्रकार से संसार के सारे बच्चे पीते हैं। जैसे हमारे शरीर का बढ़ना प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार से सबका होता है। जैसे हम किसी न किसी विद्या को पढ़ते हैं या किसी प्रकार का गुण सीखते हैं, इसी प्रकार से सारे पढ़ते या सीखते हैं। जिस प्रकार से हमारे आँख, नाक, कान, त्वचा, रसना आदि देखते, सुनते, सूँघते, स्वाद लेते, स्पर्श करते हैं, उसी प्रकार से सबकी ज्ञान इन्द्रियाँ अनुभव करती हैं। जिस प्रकार से हमारे हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा, वाक् काम करते, चलते, मल-मूत्र त्याग करते, बोलते हैं उसी प्रकार से सबकी कर्मेन्द्रियाँ करती हैं। जिस प्रकार से हमारा मन संकल्प-विकल्प या बुद्धि निश्चय करती है, उसी प्रकार से सबके मन व बुद्धि करती हैं।

जिस प्रकार से हमारे प्राण श्वास के रूप में नासिका द्वारा चलते हैं तथा उससे सारे शरीर में शक्ति का संचार होकर क्रिया शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार से सबके प्राणों द्वारा होता है।° जिस प्रकार से हमारे शरीर में 'आत्मा' यानी ज्ञानरूप से चेतन शक्ति विद्यमान है; उसी प्रकार से सब शरीरों में विद्यमान है। जैसे हम किसी न किसी घर में रहते हैं, उसी प्रकार से सारे रहते हैं। (यहाँ केवल रहने से तात्पर्य है, न कि महल या झोंपड़ी से)। जैसे हम स्त्री से विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करते हैं, उसी प्रकार से सब करते हैं। (यहाँ केवल विवाह से तात्पर्य है, प्रकार से नहीं)। जैसे हम नाना प्रकार के वस्त्रों द्वारा शरीर ढकते हैं, उसी प्रकार से सब ढकते हैं। (यहाँ भी केवल कपड़ा पहिनने से तात्पर्य है, प्रकार से नहीं)। जिस प्रकार से हम सोते या नींद लेते हैं, उसी प्रकार से सब लेते हैं। जिस प्रकार से नाना प्रकार के रोग—भूख, प्यास, अपमान, शीत, ऊष्ण, राग, द्वेष, आसक्ति, अहंता, ममता, ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान आदि से हमें दुःख या विक्षेप होता है, उसी प्रकार से सभी को होता है। (यहाँ पर आत्मदर्शी या अनन्य भक्त की बात नहीं है)। जिस प्रकार से अन्त में हमारा शरीर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, शरीर के पांच तत्व अपने-अपने कारण तत्वों में लय हो जाते हैं तथा चेतन आत्मा सविशेषरूप से निर्विशेष यानी सत्ता सामान्य में स्थित हो जाता है, उसी प्रकार से सबके शरीरों व आत्मा की दशा होती है।

जब कि हम लोग आधिभौतिक अर्थात् व्यावहारिक जीवन में शारीरिक दृष्टिकोण से मनुष्य हैं और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चेतनरूप आत्मा हैं तो फिर ऐसी पवित्र व स्वाभाविक एकता को छोड़कर कपोलकल्पित अज्ञान या स्वार्थजन्य इन नाना प्रकार के वर्ण, आश्रम, जाति, मज़हब, देश, सम्प्रदाय, पार्टी, संस्था, ऊंच, नीच, अमीर, गरीब, काला, गोरा आदि की व्यर्थ कल्पना व पक्षपात क्यों करें ? इनसे सारे संसार में नाना प्रकार के कलह, विद्वेष, रक्तपात, संघर्ष, वैमनस्य, फूट आदि के द्वारा नाना प्रकार की हानि व दुःख के अतिरिक्त आज तक और क्या लाभ हुआ है ? विचार करने से ज्ञात होता है कि इन सब अनर्थों का कारण केवल एकमात्र 'अज्ञान' ही है।

अज्ञान का कार्य व्यक्तिगत स्वार्थ एवं पक्षपात है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि इन दोनों परम शत्रुओं तथा सारे दुःखों के कारणभूत दीर्घ रोगों से बचें। अर्थात् सब में एकता का अनुभव करता हुआ, द्वेष भाव को आत्मभावना के द्वारा परित्याग करता हुआ, धर्मराज युधिष्ठिर का अनुकरण करे। इसी में मानवमात्र की भलाई है। अलग-अलग ढाई चावल की खिचड़ी पकाने से अपना व देश का अथवा विश्व का कोई भी भला नहीं हो सकता।

एक बार भगवान् श्रीकृष्ण एवं सारे कौरव-पाण्डव हरिद्वार में कुम्भ के समय स्नान करने आये हुए थे। वहां एक दिन भगवान् कृष्णचन्द्र ने भोजन तय्यार हो जाने पर महाशय

दुर्योधन जी को कहा कि जल्दी से एक महात्मा बुला लाइए। प्रथम उन्हें भोजन कराने के पश्चात् ही हम लोग भोजन करेंगे।

दुर्योधन एक घण्टे के पश्चात् जब हताश होकर वापिस आये तो खाली के खाली। कारण पूछने पर बतलाया कि साधु तो कोई दृष्टिगोचर ही नहीं होता,—लाएँ तो किसे और कहां से ? युधिष्ठिर जी वहां उस समय उपस्थित थे। उन्होंने कहा कि महाराज, मैं अभी बुलाकर लाता हूँ। इतना कह कर वे चले गये और शीघ्र ही पांच महात्मा लाकर खड़े कर दिए।

अब यहां विचार करना है कि कुम्भ के समय भी दुर्योधन को तो कोई महात्मा दृष्टि ही नहीं आया और युधिष्ठिर को सारे महात्मा ही महात्मा दिखाई दिये। इसका कारण यही हो सकता है कि दुर्योधन का अन्तःकरण इतना मलिन व दूषित था कि जिस पर भी उसकी दृष्टि पड़ती थी प्रथम दोषों पर ही पड़ती थी और युधिष्ठिर का अन्तःकरण इतना पवित्र व शुद्ध था कि जिस पर भी उनकी दृष्टि पड़ती थी, प्रथम गुणों पर ही पड़ती थी। इसीलिये युधिष्ठिर को सारे साधु ही दृष्टि आते थे और दुर्योधन को सारे असाधु ही दृष्टि आते थे।

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से एक बार प्रश्न किया कि क्या कारण है कि आपको किसी में दोष नज़र नहीं आता ? महात्मा युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि महाराज ! दोष तो मुझे भी दिखाई देते हैं, परन्तु मैं उस दोषाग्नि से बचने के लिये उसी समय एक विचार कर लिया करता हूँ। वह यही है कि जब

किसी समय किसी भी व्यक्ति में कोई दोष या त्रुटि देखने में आई तो तत्क्षण उस व्यक्ति के स्थान पर मैं अपने आपको स्थापन कर लेता हूं कि यदि यही व्यक्ति मैं होता और यही दोष मुझ में होते तो क्या करता और क्या होता ? ऐसा विचार करते ही जलती हुई अग्नि पर दस घड़े पानी पड़ जाता है, और साथ ही द्वेष भाव भी निवृत्त हो जाता है। इस का नाम है व्यावहारिक या क्रियात्मक 'एकता'।

यदि देश व विश्व के सारे सुधार या कल्याण का ढोल पीटने वाले सुधारकों में यही भाव आ जावे तो यह देश व समस्त संसार बहुत शीघ्र ही स्वर्ग के रूप में बदल जाय। परन्तु ऐसी सद्भावना सब में होनी कठिन है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि ऐसे गुणग्राही व एकता से तो सारे संसार में बड़ी उच्छृङ्खलता फैल जाएगी और चोर, डाकू, व्यभिचारी इत्यादि चरित्रहीनों को नाना प्रकार के अनर्थ व पाप करने की खुली छुट्टी मिल जाएगी। किसी प्रकार का अनुशासन स्थित ही नहीं रह सकेगा।

इस विषय पर इसी पुस्तक में 'कर्म का वास्तविक स्वरूप' नाम के लेख में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। यहां तो इस प्रश्न पर थोड़ा-सा ही विचार किया जाता है। इस संसार में आज तक कोई ऐसा मनुष्य या प्राणी नहीं हुआ होगा और न अब है कि जो सर्वथा सर्वगुण सम्पन्न हो कि जिसमें कोई दोष न हो। यह सारा जगत द्वन्द्वात्मक है। जहां गुण हैं, वहां

साथ ही दोष भी विद्यमान हैं और दोनों का होना भी स्वाभाविक ही है,—क्योंकि जब दो वस्तुओं का संयोग होता है तभी एक तीसरी वस्तु की उत्पत्ति होती है,—जैसे कि एलेक्ट्रन व प्रोटन अर्थात् नैगेटिव व पॉज़ेटिव के संयोग से क्रियात्मक विद्युत या प्रकाश की उत्पत्ति होती है और जड़ चेतन के संयोग से पंच-भौतिक जगत् का प्रादुर्भाव होता है।

इस बात का तो हम लोग प्रत्यक्ष अनुभव कर ही रहे हैं कि ज्ञान-अज्ञान, बंध-मोक्ष, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, अन्धकार-प्रकाश, रात्रि-दिन, जड़-चेतन, जन्म-मृत्यु, शीत-ऊष्ण, गुण-दोष इत्यादि द्वन्द्वों से चराचर सम्पूर्ण जगत् मिश्रित है। जहां एक होगा, वहीं दूसरे का होना अनिवार्य है, क्योंकि यह जगत् ही द्वन्द्वात्मक एवं त्रिगुणात्मक है। यही देखा भी जाता है कि न्यून-अधिक रूप में प्रत्येक देश, काल, वस्तु में दोष-गुण अवश्य रहता है। जहां ये दोनों नहीं होंगे वहां समझो जगत् ही नहीं। चन्द्रमा में विशेष गुणों के साथ नित्य प्रति घटते-बढ़ते रहना और अमा-वास्या की रात्रि को बिलकुल ही लुप्त हो जाने का दोष भी है। इसी प्रकार विशेष गुण सम्पन्न होने पर भी सूर्य किसी-न-किसी देश-काल में अर्थात् मद्रास व अफ्रीका इत्यादि देशों में गर्मी के समय इतनी गर्मी करता है जो असह्य और महान् दुःख का कारण बन जाया करती है। इसके विपरीत साइबेरिया इत्यादि देशों में मानों सूर्य की सत्ता ही नहीं है।

तात्पर्य यह है कि कहीं तो प्रचण्ड अग्नि रूप होकर जलाने

लगता है और कहीं अति शीत के कारण लोग बहुत ही दुःखी रहते हैं,—विशेष गुणसम्पन्न सूर्य में भी इतनी विषमता क्यों?

एक ही वस्तु किसी देश-काल में अनुकूल और किसी में प्रतिकूल होती है। अग्नि और ऊनी कपड़े, रजाई, कम्बल, बन्द मकान आदि शीतकाल में सुख के साधन और ग्रीष्म ऋतु में दुःख के कारण बन जाया करते हैं। इसी प्रकार से खाद्य पदार्थ भी अनुकूल-प्रतिकूल हो जाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हमारे भीतर किसी प्रकार का दोष होता है और हमें उसका पता लग जाता है तथा मन मान लेता है कि हाँ, हमारे अन्दर यह दोष है, यह अवश्य दूर होना चाहिये तो अपने व्यक्तित्व के साथ बिना किसी घृणा व द्वेषभाव के हम उस दोष को निकालने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार युधिष्ठिर की भावना से हमें यह शिक्षा मिलती है कि दूसरे व्यक्ति में दोष देखते हुए भी अपनी भांति सद्भावना पूर्वक बिना किसी घृणा के उसे निकालना चाहिए। जिस प्रकार अपने घर में अपना निजी सम्बन्धी जब किसी रोग से पीड़ित होता है तो उस से बिना किसी घृणा के, प्रेम से उसकी चिकित्सा, रोगी को नष्ट करने के लिये नहीं, किंतु रोग को नष्ट करने के लिए करते हैं।

महात्मा मन्सूर को व महात्मा ईसामसीह को धर्मान्धों व स्वार्थियों ने सूली पर चढ़ा दिया तो उस समय खुदा के फरिश्ते क्रोध के मारे आंखें लाल-लाल कर भयंकर रूप धारण किए हुए मन्सूर व ईसामसीह से आज्ञा मांगने लगे कि यदि हमें कहो तो

सारी दुनियां को उलट-पुलट कर डालें और इन काफ़िरों को जला कर खाक कर दें। परन्तु इन दोनों महापुरुषों ने यही उत्तर दिया कि यदि आप लोगों में इतनी शक्ति है और हमारे ऊपर इतने कृपालु हो रहे हैं तो कृपा करके इन लोगों को नष्ट करने के बजाय इन की बुद्धि शुद्ध करके उस अज्ञान को नष्ट कर दीजिए कि जिसके कारण ये लोग ऐसा अनुचित व्यवहार कर रहे हैं।

जयपुर में एक मन्दिर के पुजारी ने स्वामी दयानन्द सरस्वती को किसी वस्तु में विष दे दिया। जब इस बात का पता पुलिस कोतवाल को चला तो उसे हथकड़ी लगाए हुए स्वामी जी से बयान लेने के लिए उनके पास ले गए। स्वामी जी ने आज्ञा दी कि इसे खोल दो। कोतवालने कहा कि महाराज! यह तो आपका हत्यारा अर्थात् अपराधी है, इसको कैसे छोड़ सकता हूँ? तब स्वामी जी ने कहा कि तेरी क्या शक्ति है कि जो मेरे अपराधी को पकड़ सके? कोतवाल ने कहा कि महाराज! उसे आप बतायें, मैं जिस तरह से भी होगा उसे अभी गिरफ्तार कर लूँगा। तब स्वामी जी ने कहा कि इसकी मूर्खता व अज्ञान ही मेरा हत्यारा है। क्या तुम उसे गिरफ्तार कर सकते हो? मैं सदुपदेश के द्वारा अन्धविश्वास व मूर्खता को हटाना चाहता हूँ जो कि देश व समाज के लिए महान घातक है। परन्तु ये लोग स्वार्थी, धर्मान्ध व अन्धविश्वासी होने के कारण रोगग्रस्त बालकवत् मुझे अपना शत्रु समझ रहे हैं

सब में इस प्रकार की निष्ठा होनी बहुत ही कठिन है। यह

भावना आत्मदर्शी व अनन्य भक्त में ही पूर्ण रूप से आ सकती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह बात सर्वथा असम्भव है। क्या जिन महापुरुषों में यह धारणा थी, वे मनुष्य नहीं थे? मनुष्य के लिए कोई भी बात असम्भव है ही नहीं। केवल साहस अभ्यास की कमी है।

बस, इतना ही विचार करने से उपरोक्त शङ्का का पूर्ण रूपसे समाधान हो गया। प्रत्येक सुधारक व पथ प्रदर्शक आत्म-कल्याण के जिज्ञासु में इस सद्भावना का होना परमावश्यक है। इसी पर एक कवि कहता है—

न थी जब कि हमको अपनी खबर,
रहे देखते औरों के एबो हुनर।
पड़ी अपनी बुराइयों पर जो नज़र,
तो निगाह में कोई बुरा न रहा॥

जीवत्व की संकुचित भावना से निकलने के लिए अद्वैत भावना परमावश्यक है। अतः सर्वत्र अद्वैत दर्शन ही जीव का चरम लक्ष्य है।

वास्तविक सिद्धान्त

वेदान्त शास्त्रों में प्रायः तीन प्रकार की प्रक्रियाओं के द्वारा अधिकारी भेद से ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है—

(१) विवर्तवाद (२) दृष्टि-सृष्टिवाद (३) अजातवाद ।

विवर्तवाद

इस वाद में जगत को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं अर्थात् कोई भी कार्य, अपने कारण में बिना किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये ही अपनी (कार्य की) प्रतीति करावे। जैसे कि भ्रम स्थल में सर्प रज्जु का विवर्त है। किन्तु रज्जु से पृथक सर्प का जब कोई न कोई द्रष्टा होगा तभी सर्प की प्रतीति हो सकती है अन्यथा रज्जु को स्वयं तो सर्प की भ्रान्ति हुआ नहीं करती। सर्प की भ्रान्ति से प्रथम ही जब तक भ्रान्ति के पांच साधन (कारण) विद्यमान न हों, तब तक सर्प की भ्रांति हो ही नहीं सकती। सर्प का भ्रम होने से पूर्व परमार्थरूप सत्य वस्तु रज्जु से भिन्न—(१) सर्पद्रष्टा, (२) सच्चा सर्प, (३) सच्चे सर्प का संस्कार, (४) सर्प का सादृश्य तथा (५) मन्द अन्धकार,—इन पांच कारणों का होना अनिवार्य है। किन्तु जबकि वेदान्त चेतन सत्ता से

अतिरिक्त और सत्ता मानता ही नहीं, तो फिर जगत ब्रह्म का विवर्त कैसे हो सकता है ?

इस वाद में तीन सत्तायें मानी जाती हैं—व्यावहारिक, प्रातिभासिक तथा पारमार्थिक। भयभीत होना रूप व्यवहार, सर्पप्रतीति रूप प्रतिभास तथा रज्जु का परमार्थत्व,—ये सब स्थूल बुद्धि वालों को समझाने के लिये वेदान्त की प्रथम कक्षा है। कनिष्ठ अधिकारी के लिये यह प्रक्रिया उपयुक्त है।

दृष्टिसृष्टिवाद

इस वाद में जगत की सत्ता प्रातिभासिक मानी गई है, जैसे कि मरुस्थल का जल तथा स्वप्न की सृष्टि न होने पर भी प्रतीत होती है। इस 'वाद' में व्यावहारिक सत्ता का निषेध करके प्रातिभासिक व पारमार्थिक दो सत्ताएँ मानी गई हैं। परन्तु इस वाद (युक्ति) में भी द्वैत की आपत्ति होती है क्योंकि मरुभूमि में जल की भ्रांति तभी हो सकती है जबकि—(१) सूर्य की प्रचण्ड गरमी, (२) मरुभूमि, (३) सच्चे जल का संस्कार, (४) द्रष्टा,—ये चार प्रकार के भ्रांति के साधन (कारण) परमार्थरूप सत्यवस्तु मरुस्थल के प्रथम ही विद्यमान हों। किन्तु जबकि केवल ज्ञान-रूप आत्मा से पृथक् और कुछ है ही नहीं, तो फिर भ्रांति और उसका कार्य (जगत) कैसे हो सकता है ? यह वेदान्त की दूसरी कक्षा है। मध्यम अधिकारी के लिये यह प्रक्रिया उपयुक्त है।

अजातवाद

यह वेदान्त की अन्तिम प्रक्रिया है अर्थात अब तक जिस

भ्रम और उसके कार्य (जगत) को मानते आये हैं, वह वास्तव में है नहीं। चेतन सत्ता देश-काल-वस्तु के परिच्छेद से रहित, अपने आपमें पूर्ण है और पूर्ण में दूसरी वस्तु की समाई ही नहीं हो सकती,—तब भ्रम और उसका कार्य कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

अब यहां यह प्रश्न होता है कि जब अजातवाद का सिद्धान्त ही ठीक है, तब जगत की यह प्रत्यक्ष प्रतीति क्यों तथा किसको हो रही है? इस प्रश्न का यथार्थ समाधान श्रुति ने ही कर दिया है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—अर्थात् निश्चय करके यह नाम-रूपात्मक जगत ब्रह्म ही है,—जैसे कि नाना प्रकार के वस्त्र रुई रूप, भूषण स्वर्णरूप और घट मृत्तिका रूप ही हैं।

फिर यहां प्रश्न होता है कि रुई, स्वर्ण और मृत्तिका,—ये स्वयं (बिना किसी दूसरे की सहायता के) कार्यरूप में नहीं हो सकते। इसलिये इनका बनाने वाला कर्त्ता कोई-न-कोई अवश्य होना चाहिये। यदि यह बात ठीक है, तो इस 'अजातवाद' में भी द्वैत की आपत्ति हो जायगी।

इसका एकमात्र उत्तर यही है कि जिस प्रकार वायु व विद्युत में स्वाभाविक,—विना किसी अन्य वस्तु के सम्बन्ध के ही,—क्रिया होती है, वैसे ही परमात्मा तत्व में भी होती है। गतिशील (क्रियावान्) वायु को विशेष तथा स्थिर (निष्क्रिय) वायु को सामान्य कहते हैं। इसी प्रकार से निष्क्रिय या निर्विकल्प चेतन सत्ता मात्र को निर्विशेष सामान्य चेतन या शुद्ध ब्रह्म कहते हैं और अन्तः-

करण उपहित या संकल्प-विकल्प युक्त चेतन को सविशेष चेतन कहते हैं। यह सविशेष चेतन ही द्रष्टा-दर्शन-दृष्य इत्यादि त्रिपुटी के रूप में पूर्ण हो रहा है जिसे जगत भी कहते हैं। अब उसी का संक्षेप में विचार किया जाता है।

वेदान्त में दो प्रकार के वाक्य होते हैं,—निषेधात्मक तथा विधेयात्मक। इन्हें ही अपवाद व आरोप भी कहते हैं। आरोपित (कल्पित) वस्तु का अपवाद (निषेध) करना वेदान्त की प्रक्रिया (समझाने की रीति) है, किन्तु यहाँ इसके विचार की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल विधेयात्मक अजातवाद के सिद्धान्त का ही विचार किया जाता है।

'नैव जातः इति अजातः' अर्थात् उत्पत्ति रहित वस्तु को अजात कहते हैं तथा उसी को अनादि भी कहते हैं—'न आदि-र्यस्य इति अनादि'—अर्थात् जिसकी आदि (उत्पत्ति) न हो। इसलिये इस जगत को प्रवाह रूप से अनादि मानना पड़ता है। जबकि जगत की उत्पत्ति ही नहीं, तो फिर कर्ता का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। तभी कारण-कार्य से रहित यह नाम रूपात्मक जगत ब्रह्म रूप हो सकता है।

कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि नाम-रूप का बाध करके अस्ति-भाति-प्रियरूप से यह जगत ब्रह्म होगा। यदि नाम-रूप का बाध किया जायगा तो फिर वही द्वैत का प्रतिपादक सिद्धान्त निषेधात्मक साधन ही विद्यमान रहेगा और द्वैतभाव की निवृत्ति

नहीं होगी। इसलिये निश्चय करके यह नामरूपात्मक जगत ब्रह्म ही है,—जैसे कि सारे वस्त्र निश्चय रूप से रुई ही हैं।

'अजातवाद' में विधिवाक्य सिद्धान्त के अनुसार नामरूपात्मक जगत, पाँच विषय तथा उनके अवान्तर भेद और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, छल, कपट, राग, द्वेष, जन्म, मृत्यु, बन्धन, स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि नाना प्रकार के कार्य,—इन सबका कारण माया को ही माना है। इनसे सम्बन्ध होने से दुःख मानते हैं तथा इनके त्याग से 'परम शान्ति' (मोक्ष) मानते हैं। परन्तु ऐसा मानने वाले महानुभावों को कभी मोक्ष व शान्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें प्रश्न यह होता है कि ये सब बन्धन व दुःख के कारण साधन) कहाँ से और क्यों आये? फिर, जिन कारणों (साधनों) से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द आत्मा को बन्धन व दुःख हुआ, उन कारणों को एक बार निवृत्त (नष्ट) कर देने पर भी, पुनः वे ही दुःख व बन्धन हो सकते हैं। यदि पुनः ऐसा नहीं हो सकता, तो फिर अब क्यों है? इसलिए समझ लो कि निश्चित ही अब भी वैसा नहीं है।

बन्धन, मोक्ष, ज्ञान, अज्ञान, माया, अविद्या, जीव, ईश्वर इत्यादि का होना और न होना केवल शिशुओं की कल्पनाएँ ही हैं। ये सब सिद्धान्त की बातें नहीं हैं। इस प्रकार की व्यर्थ कल्पना करने वालों को कभी मोक्ष व शान्ति हो ही नहीं सकती। कारण कि इसमें यह प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि बन्धन व दुःख के ये समस्त कारण व साधन सत हैं या असत हैं? यदि कहो कि

सत हैं तो निवृत्त नहीं हो सकते। यदि कहो कि असत् हैं, तब इनसे भयभीत होने की कोई आवश्यकता ही नहीं क्योंकि ये हैं ही नहीं। यदि इन्हें कल्पना मात्र (मिथ्या) मानते हैं, तो आज तक किसी ने भी सूर्य में अन्धकार की न तो कल्पना ही की है और न कल्पित अन्धकार की निवृत्ति ही की जाती है।

बहुत से महानुभाव इस विषय में उल्लू का दृष्टान्त देते हैं कि सूर्य में अन्धकार न होते हुए भी उल्लू उसे अनुभव करता है। पर यह दृष्टान्त भी बुद्धिहीन बालकों सरीखा ही है क्योंकि उल्लुओं ने मनुष्यों के पास ऐसा कोई प्रार्थना-पत्र लिखकर नहीं भेजा कि भाइयो, सूर्य हमें अन्धकारमय प्रतीत हो रहा है। मैंने स्वयं इस बात का अनुभव करके देखा है कि उल्लू को भी दिन में दीखता है। एक लम्बा बाँस लेकर उसके सामने किया और वह देखते ही उड़ गया। इसलिए बन्धन व अज्ञान को मानना ही बन्धन व अज्ञान है अन्यथा भेद-छेद से रहित चेतनसत्ता के अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु ही कहाँ है जिसके साथ युद्ध करना है ? माण्डूक्य की कारिका इसी को कहती है कि—

न निरोधो न चोत्पत्ति र्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षु र्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता ॥

अर्थात् किसी भी प्रकार के साधन की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रकार का कोई बन्धन व अज्ञान आत्मा में है ही नहीं। इसलिये मुमुक्षु व मुक्तात्मा भी कोई नहीं, वरन् अपने आपका अनुभव या निश्चय ही परमार्थ है।

जिस नाम-रूपात्मक जगत को अपने आत्मा से पृथक अनुभव करके कल्पित भ्रम की प्रतीति होती है तथा जिससे नाना प्रकार के साधन-साध्य सहित सारा संस्कृत साहित्य भरा पड़ा है, उसी का निरूपण और भी बहुत सी इंगलिश, उर्दू, फारसी इत्यादि भाषाओं में भी है। परन्तु इन से भ्रान्तियों से छूटना तो दूर रहा, उल्टे नाना प्रकार की भ्रान्तियों की दृढ़ता और होती जाती है।

ग्रन्थों में एक ओर तो केवल ब्रह्म सत्ता को ही भेद-छेद से रहित अद्वितीय रूप से प्रतिपादन किया है और कहा है कि केवल आप चेतन तत्व ही नाना प्रकार के नाम-रूपों में द्रष्टा-दर्शन-दृश्य इत्यादि त्रिपुटी रूप से पूर्ण है,—जैसे नाना प्रकार के घटों में मृत्तिका या नाना प्रकार के भूषणों में स्वर्ण ओतप्रोत है। जिस प्रकार बाग को वृक्षों क समूह से, नगर को घरों के समूह सं और फुलवाड़ी को पुष्पों के समूह से पृथक सिद्ध नहीं किया जा सकता,—इसी प्रकार से समष्टि नामरूपात्मक जगत से पृथक यदि ब्रह्म की खोज की जावे तो तीन काल में भी चेतन सत्ता का अपरोक्ष अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी कारण अपने नामरूप कार्य के वास्तविक स्वरूप से पृथक कभी भी प्रत्यक्ष हो नहीं सकता।

तात्पर्य यह कि जिन वेदान्त ग्रन्थों में एक ओर तो केवल एक सत्ता का ही प्रतिपादन किया जाता है और उन्हीं ग्रन्थों में दूसरी ओर यह भी कथन किया जाता है कि शुद्ध चेतन का आभास सत्व-प्रधान माया में पड़ने से ईश्वर, और मलिन सत्व

प्रधान माया में पड़ने से जीव कहलाता है। इन्हीं तीनों के मेल से जगत की रचना होती है और यह जीव कर्म-फल भोगने के लिये बार-बार ऊँच-नीच योनियों को धारण करता है तथा माया, जीव, ईश्वर,—ये तीनों अनादि हैं। दूसरी ओर दृष्टि डालने से जगत की रचना और ही नाना प्रकार से देखने में आती है अर्थात् जगत की नाना प्रकार से रचनाएँ विस्तार पूर्वक उपनिषदों में देखने में आती हैं।

जब इस प्रकार से एक ही शास्त्र में द्वैत व अद्वैत दोनों प्रकार के सिद्धान्तों को देखता है तो पढ़ने वाले की बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है, और नाना प्रकार के संशय बढ़ जाते हैं जिनका निकलना कठिन हो जाता है। यदि इन्हीं वेदान्त शास्त्रों में अजातवाद सिद्धान्त के अनुसार केवल एक सत्ता का ही प्रतिपादन किया जाता,—जीव, ईश्वर, माया, अविद्या, कर्म, बन्धन, मोक्ष इत्यादि कल्पनाओं का चेतन सत्ता से पृथक कथन न किया जाता, तो वेदान्त के सिद्धान्तों को समझने में इतनी कठिनाई न होती।

किन्हीं विद्वानों का यह भी कहना है कि ये सब ईश्वर, जीव, प्रकृति, अविद्या, बन्धन, कर्म, अज्ञान इत्यादि का आरोप इसलिये किया गया है कि जिससे सुगमतापूर्वक ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप समझने में आ जावे। किन्तु इन मिथ्या कल्पनाओं से समझने में सुगमता नहीं होती, बल्कि एक सीधी सादी रस्सी गाँठें दे-देकर गोरखधन्धे की भांति और भी कठिन बना दी जाती है। यदि तर्क की कसौटी पर ईश्वर, जीव, माया, अज्ञान,

कर्म, बन्धन इत्यादि को कसा जाय तो ये सब कल्पनायें ऐसे उड़ जायेंगी जैसे कि गधे के सिर से सींग।

वैसे तो पृथक्-पृथक् युक्तियों से इन कल्पनाओं की समाप्ति हो ही जाती है, किन्तु एक ही ऐसी युक्ति दी जाती है कि जिससे और विशेष वाद-विवाद की आवश्यता ही न पड़े। प्रत्येक द्वैत-वादी महानुभाव से यह प्रश्न होगा कि ईश्वर, गॉड, खुदा अर्थात् 'चेतन सत्ता' पूर्ण है या परिच्छिन्न? परिच्छिन्न मानने वालों से विशेष बातचीत करने की कोई आवश्यकता है नहीं,—वे लोग श्री शालिग्राम जी का चरणामृत पिया करें या उसे सातवें आसमान पर माना करें। हाँ, जो बुद्धिमान् पुरुष व्यापक मानते हैं, उन्हीं से कुछ विचार करना है।

व्यापक या पूर्ण की परिभाषा क्या है? 'देश-काल-वस्तु-परिच्छेद-राहित्यं=व्यापकत्वं' अर्थात् जो तत्त्व प्रत्येक देश, काल व वस्तु में ओतप्रोत हो, वही व्यापक हो सकता है जैसे कि बर्फ में जल। भूषणों मेंस्वर्ण और वस्त्रों में रुई ओतप्रोत है, उसी प्रकार से समष्टि नामरूप में चेतनसत्ता ओतप्रोत है। इसलिये सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद तथा देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित जो चेतनसत्ता है, उसके कौन से देश, काल में ईश्वर, जीव, प्रकृति, अज्ञान, बन्धन, कर्म इत्यादि रह सकेंगे? अर्थात् नहीं रह सकते। इसीलिये इन सब वस्तुओं का मानना भ्रम मात्र है और वह भ्रम भी एक आरोपमात्र है।

किसी जिज्ञासु ने एक महात्मा से प्रश्न किया कि महाराज!

आप बार-बार भ्रम या अज्ञान का नाम लेते हैं कि यही सारे प्रपंच का एकमात्र कारण है। कृपा करके इस भ्रम का वास्तविक स्वरूप मुझे बतलाइये कि वास्तव में यह क्या वस्तु है ? महात्मा ने कहा कि भ्रम का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहते हैं या केवल सुनना ही चाहते हैं ? जिज्ञासु ने कहा कि प्रत्यक्ष दर्शन करवाइये।

महात्मा ने उसे एक मन्त्र बतलाया और कहा कि इसका जाप करो, १० दिन के पश्चात् भ्रम देवता का प्रत्यक्ष दर्शन हो जायगा। किन्तु एक बात का ध्यान रखना कि कहीं किसी भूत का ध्यान मन में न आने पावे, नहीं तो फिर कार्य की सिद्धि नहीं होगी।

जिज्ञासु ने जाकर विधिपूर्वक बैठकर जैसे ही मन्त्र का जाप प्रारम्भ किया वैसे ही एक भूत उसके मन के सामने आकर नाचने-कूदने लगा। उसने ज्यों-ज्यों उस भूत को मनसे निकालने का प्रयत्न किया, त्यों-त्यों वह भूत और अधिकता से उसके ऊपर सवारी गाँठने लगा। इसी प्रकार दस दिन के बजाय एक मास तक लगे रहने पर भी वह भ्रम देवता का दर्शन नहीं कर सका, क्योंकि वह उस भूत को एक क्षण के लिये भी अपने मन से जुदा ही नहीं कर सका। अन्त में वह निराश होकर उन्हीं महात्मा के पास आकर कहने लगा कि महाराज! भ्रम देव का दर्शन तो दूर रहा, आपने तो एक नई 'बला' पीछे और लगा दी जो एक क्षण के लिये भी पीछा ही नहीं छोड़ती, उल्टे अब मुझे ही खा जाना चाहती है।

महात्मा ने कहा कि बस, यही तो भ्रम का वास्तविक स्वरूप है। जिस वस्तु का अपना कोई अस्तित्व नहीं, केवल सुनी हुई बात से उस अनहुई वस्तु को बलात् अपने ऊपर थोप लेना ही 'भ्रम' है।

प्रथम आपके मन में किसी भूत इत्यादि का संस्कार नहीं था। किन्तु मेरे संस्कार डाल देने से वही,—स्वयं आपका अपना कल्पित भूत जिसका अब भी कोई अस्तित्व नहीं है,—आपको क्षोभ पहुंचा रहा है।

इसी प्रकार शास्त्रकारों ने जो नाना प्रकार के बन्धन, जन्म, मृत्यु इत्यादि दु:खों का कारण भ्रम (अज्ञान) को माना है, वह भ्रम या अज्ञान उसी प्रकार से चेतन आत्मा में कल्पित है जिस प्रकार से गधे के सिर में सींग। तात्पर्य यह है कि जन्म से लेकर मृत्यु तक, बन्धन से लेकर मोक्ष तक, जीवत्व से लेकर ईश्वरत्व तक तथा अज्ञान से लेकर ज्ञान तक सम्पूर्ण जगत स्वप्नवत् चेतन देव का विलास (लीला) मात्र है।

शास्त्रकथित अध्यारोप-अपवाद के द्वारा वास्तविक तत्व को समझने में सुगमता नहीं होती, बल्कि कठिनाई अधिक बढ़ जाती है। इसीलिए वेदान्त के समझने के लिये लोगों की प्रवृत्ति बहुत कम होती है। भला, जिस आत्मतत्व को समझने के विषय में वशिष्ठ जी ने कहा है कि फूल को मसलने में देरी लग सकती है, परन्तु आत्मतत्व को जानने में देरी नहीं लगती क्योंकि जिस तत्त्व को प्राप्त करना (समझना) है, वह तो स्वयं ही है। स्वयं को पाने में देर कैसी या साधन कैसा?

अध्यारोप-अपवाद वेदान्त शास्त्र में नहीं होना चाहिये, इसके लिये दूसरे ग्रन्थ बहुत हैं। क्योंकि इस विद्या का नाम ब्रह्म-विद्या है। इसमें ब्रह्मतत्व के अतिरिक्त और किसी वस्तु का प्रतिपादन नहीं होना चाहिये। यही 'अजातवाद' का सिद्धान्त है। यह प्रक्रिया उत्तम अधिकारी के लिये उपयुक्त है। इसी विषय का अब अन्य प्रकार से भी विचार किया जाता है।

वेदान्त शब्द के अर्थ के अनुसार ही उसका विषय भी होना चाहिये,—वेद (ज्ञान की) + अन्त (समाप्ति) = वेदान्त अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा। ज्ञान दो प्रकार का होता है,—वृत्तिज्ञान तथा स्वरूपज्ञान। अन्तःकरण उपहित चेतन या विशेषज्ञान का नाम वृत्तिज्ञान है, यही जगत रूप है अर्थात् समस्त नामरूपात्मक जगत का उपादान कारण ही वृत्तिज्ञान है। जगत का निमित्त कारण सामान्य ज्ञान (सत्ता सामान्य), निर्विशेष चेतन है, किन्तु इन दोनों चेतनों में कोई अन्तर नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिस समय वृत्तिज्ञान की समाप्ति हो जाती है अर्थात् निर्विकल्प समाधि का नाम ही वेदान्त है। इस अवस्था में कार्य ब्रह्म यानी नाम-रूपात्मक जगत अपने वास्तविक स्वरूप में लय हो जाता है।

नामरूपात्मक जगत अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्म में कब लय होता है ?—जिस समय नाना प्रकार के वस्त्र व भूषण रुई तथा स्वर्ण रूप ही दीखने लग जायँ। इस अनुभव का नाम ही तो निर्विकल्प समाधि या वेदान्त है। जिस प्रकार से जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति व समाधि इत्यादि अवस्थाओं का द्रष्टा, स्वयं ही दृश्य

रूप होकर, फिर उसी का बोध प्राप्त करता है कि ये सब मेरी अपनी ही कल्पनाएँ थीं अर्थात् स्वयं मैं ही था।

यदि कोई यह शंका करे कि इन अवस्थाओं का दृश्य द्रष्टा रूप नहीं हो सकता—द्रष्टा से भिन्न स्वतंत्र है,—तब इसका एकमात्र उत्तर यही है कि आप अपने संकल्प को रोककर, फिर द्रष्टा से दृश्य को भिन्न करके दिखलावें, तब बाद में इस प्रश्न का उत्तर मिलेगा अर्थात् इस प्रश्न को सुषुप्ति या समाधि अवस्था में करें। तात्पर्य यह है कि आँधी रूप वायु एवं तरङ्गात्मक जल, जब अपनी विशेष अवस्था से सामान्य (शान्त) अवस्था में हो जाते हैं, तब भी उनको वायु एवं जल ही कह सकते हैं। क्या आँधी वायु रूप तथा तरङ्ग जल रूप नहीं है ? इसी प्रकार संकल्प-विकल्पात्मक सविशेष चेतन ही जब अपनी विशेषता का त्याग कर देता है, तब वही निर्विशेष चेतन है, जिसे पूर्ण ब्रह्म, पूर्णानन्द, पूर्ण शान्ति इत्यादि नामों से कथन किया गया है।

अब दूसरा प्रश्न यह भी है कि जगत ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तब तो कोई विवाद ही नहीं। और यदि भिन्न है तो वह कौन-सा देश-काल है कि जहाँ और जब ब्रह्म नहीं रहता तथा वह देश-काल जगत से भिन्न है या जगत के अन्तर्गत है ? यदि अन्तर्गत है तब तो वही रूप हुआ और यदि भिन्न है तब, ब्रह्म की भांति, एक तीसरी वस्तु और भी माननी पड़ेगी। इसलिए तीन पदार्थों की सत्ता भिन्न-भिन्न हुई। फिर तो

जिस देश-काल में जगत है, उस देश-काल में ब्रह्म नहीं तथा जिस देश-काल में ब्रह्म है, उस देश-काल में जगत नहीं।

इसी प्रकार से देश-काल को भी इन दोषों से पृथक मान लेना चाहिए। इसलिये ब्रह्म, जगत और देश-काल,--इन तीनों का भिन्न-भिन्न देश-काल कौन-सा है? यदि इन तीनों का देश-काल भिन्न-भिन्न माना जाय तो फिर प्रश्न होता है कि देश का कौन-सा देश है और काल का कौन-सा काल है? तब तो ब्रह्म उत्पत्ति विनाश वाली एकदेशीय वस्तु सिद्ध हो जायगी। फिर तो ऐसे ब्रह्म को प्राप्त करना ही व्यर्थ है।

यदि यह कहा जाय कि इन तीनों का देश-काल एक ही है, फिर तो भिन्न-भिन्न तीन पदार्थों का एक देश-काल हो नहीं सकता। एक पदार्थ का एक ही देश-काल हो सकता है। इसलिए जिस देश-काल में, जिस एक वस्तु को माना जायगा, उसी देश-काल में किसी दूसरी वस्तु का अभाव होना चाहिये। यदि जगत का देश-काल माना जाय तो ब्रह्म का अभाव होगा और यदि ब्रह्म का भाव माना जाय तो जगत का अभाव होगा। इससे ज्ञात होता है कि यह नाम रूपात्मक जगत ही ब्रह्मरूप है,—जैसे वृक्षों की समष्टि ही वन तथा घरों की समष्टि ही नगर है।

अब यहाँ एक प्रश्न होता है कि यदि नाम रूपात्मक जगत ही ब्रह्म है तो फिर यह जगत सत्-चित्-आनन्द रूप से क्यों नहीं भासता? ब्रह्म का स्वरूप तो सत्-चित्-आनन्द रूप है, किन्तु जगत इसके विपरीत असत्, जड़, दुःखरूप से भासता है।

इसका समाधान यही हो सकता है कि असत् पदार्थ भासता है या नहीं ? यदि भासता है तो फिर असत् नहीं हो सकता, क्योंकि जो वस्तु तीन काल में न हो, उसे ही असत् कहते हैं। किन्तु यह जगत तो तीनों कालों में दृष्टि आता है, तब उसे जड़ व दुःख रूप कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् असत्, जड़, दुःख नाम की कोई वस्तु है ही नहीं।

यदि यह कहा जाय कि जगत को सत् तो मानते हैं, किन्तु यह जड़ और दुःखरूप अवश्य है, क्योंकि जड़ता तथा दुःख की प्रतीति प्रत्यक्ष होती है। थोड़ी देर के लिये यही बात मान ली जाय तो, फिर तो जगत के किसी भी पदार्थ में चैतन्य व आनन्द होना ही नहीं चाहिये। किन्तु यहाँ तो प्रत्येक पदार्थ में चैतन्य व आनन्द की प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही है। इसलिये एक ही देश-काल में दो विरोधी वस्तुयें नहीं रह सकतीं। जब कि सत्, चित, आनन्द सत्ता व्यापक या पूर्ण है, तब उसमें असत्, जड़, दुःख की समाई नहीं हो सकती।

दृष्टान्त—एक बार एक द्वैतवादी और एक ब्रह्मवादी (वेदान्ती) में वाद-विवाद हुआ। जीव (द्वैत) वादी ने कहा—'जीव ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि जीव परिच्छिन्न, परतन्त्र, कर्मों का कर्ता-भोक्ता, जन्मने-मरने वाला है। इससे विपरीत ब्रह्म पूर्ण, व्यापक, अकर्ता, अभोक्ता, अजन्मा, अविनाशी है। इसलिये इन दोनों की एकता कैसे हो सकती है ? जैसे अग्नि व पानी की तथा

अन्धकार व प्रकाश की एकता सम्भव नहीं, इसी प्रकार से जीव और ब्रह्म की एकता नहीं हो सकती ।'

वेदान्ती ने कहा—'महावाक्यों (तत्वमस्यादि) के भाग-त्याग लक्षणा से जीव-ब्रह्म की एकता हो जाती है। भाग-त्याग लक्षणा का तात्पर्य यह है कि सामवेद के—'तत्वमसि'—महावाक्य के तीन पद हैं—'तत्-त्वम्-असि'। 'तत्' पद का वाच्यार्थ है—अविद्या उपाधि वाला जीव। इन तत्-त्वम् पदों का लक्ष्यार्थ चेतनमात्र में है। ईश्वर की माया रूप उपाधि भाग का तथा जीव की अविद्या उपाधि का, चेतन ब्रह्म में अध्यस्त (कल्पित) समझकर, बाध कर दिया जाय तो दोनों स्वरूप से एक चेतन ही हैं।

अद्वैतवादी ने अपने पक्ष के समर्थन में दृष्टान्त दिया कि एक दिन श्रीकृष्ण अपने सखाओं सहित चड्ढी खेल रहे थे। दो-दो बालकों की जोड़ी तैयार करके, उनमें से एक बालक दूसरे के कन्धे पर बैठकर एक निश्चित स्थान तक ले जाता और फिर ले जाने वाला बालक अपने कन्धे पर बैठने वाले बालक के कन्धे पर बैठकर वापिस आता।

श्रीकृष्ण व श्रीदामा की जोड़ी थी। श्रीकृष्ण श्रीदामा के कन्धे पर बैठकर गये, किन्तु जब श्रीदामा की बारी श्रीकृष्ण के कन्धे पर बैठने की आई तो कृष्ण ने साफ इनकार कर दिया कि मैं तो तुम्हें अपने कन्धे पर नहीं बिठाऊँगा। तब श्रीदामा कृष्ण का हाथ पकड़कर बोला—'जाते कहाँ हो? चड्ढी देनी पड़ेगी। हमारी झोंपड़ी तुम्हारे महल के नीचे नहीं है कि जो उजाड़कर

फेंक दोगे। क्या हुआ जो तुम्हारे सौ-पचास गौएँ अधिक हुईं! तुम्हारी और हमारी जाति एक है,—हम दोनों ही ग्वाल हैं।'

इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रीदामारूपी जीव, श्रीकृष्णरूपी ईश्वर से कह रहा है कि तुम्हारी उपाधि माया होने से तुम सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान आदि शक्तियों के सहित हो तथा मेरी उपाधि अविद्या होने से मैं अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् हूं,—तथापि तुम मेरी सत्ता नहीं मिटा सकते। तुम्हारी उपाधि, शक्तियाँ आदि ही ईश्वरत्व है एवं मेरी उपाधि व दीनता-हीनता आदि ही जीवत्व है,—परन्तु ये दोनों ही चेतन में अध्यस्त (कल्पित) हैं। लक्ष्यार्थ में दोनों का चेतन एक ही स्वरूप है। उस चैतन्य स्वरूप में सजातीय, (देश परिच्छिन्नता), विजातीय (काल परिच्छिन्नता) और स्वगत (वस्तु कृत परिच्छिन्नता) भेद नहीं है।

द्वैतवादी ने कहा कि इन दोनों को उपाधि ने क्यों घेर लिया, जिसे दूर करने के लिये आपको तथा हमें इतनी माथाकूटी करनी पड़ रही है? फिर भी तो वह उपाधि हिमालय पर्वत की भाँति खड़ी ही रहती है। जिस कारण से नित्य, शुद्ध, मुक्त ब्रह्म में उपाधि आ जाने से वह ब्रह्म जीव हो जाता है, उस उपाधि को किसी साधन से एक बार निवृत्त कर देने पर भी क्या उसी कारण से उपाधि पुनः उपस्थित नहीं हो सकती? यदि नहीं हो सकती तो अब कैसे हुई?

इस प्रकार से दोनों का बहुत वाद-विवाद हुआ किन्तु निश्चय

कुछ भी न हुआ। अन्त में दोनों किसी अनुभवी मस्त महात्मा के पास गये तथा दोनों ने अपना-अपना विचार प्रकट किया।

महात्मा ने कहा—'जीव-ब्रह्म को भिन्न तथा अभिन्न करने वाले आप कौन हैं ? यदि आप लोगों ने जीव व ब्रह्म को तथा इनकी भिन्नता व अभिन्नता को देखा है, तब तो आप इनके द्रष्टा, इनसे पृथक हुये। यदि नहीं देखा तो इतनी माथाकूटी क्यों कर रहे हैं ? इसलिये इन दोनों को फेंकिए,—इनकी कल्पना का त्याग करके आप जो स्वयं हैं,—एकान्त (एक+अन्त=एकान्त) में उसका अनुभव कीजिये। अन्यथा पानी के मथने से मक्खन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

कविता

एक कहूँ तो अनेकहि दीखत, एक अनेक नहीं कछु ऐसो,
आदि कहूँ तो अन्तहि आवत, आदि न अन्त तो मध्य सो कैसो ?
गोप्य कहूँ तो अगोप्य कहावत, गोप्य अगोप्य उभय नहिं कैसो,
जोई कहूँ सोई नहिं सुन्दर, है तो सही पर जैसो को तैसो॥

तात्पर्य यह है कि विचार के द्वारा अन्त में दो वस्तुओं का निर्णय होता है—एक 'चेतन्य' दूसरा 'जड़'। चेतन जड़ नहीं हो सकता तथा जड़ चेतन नहीं हो सकता,—जैसे प्रकाश अन्धकार नहीं हो सकता तथा अन्धकार प्रकाश नहीं हो सकता। आप सर्व के ज्ञाता व द्रष्टा चेतन आत्मा हैं। यदि जीव और ब्रह्म चेतन हैं,—तब दोनों आप ही हैं। यदि दोनों जड़ हैं, तो फिर वे अनात्मा हैं तथा उनके भिन्न व अभिन्न होने से चेतन आत्मा (आप) को कोई हानि-लाभ नहीं है।

आत्म-निवेदन

कल्याण के जिज्ञासुओं के लिये यह साधन ऐसा सुखद व सुलभ है कि इसके द्वारा जन्म, मृत्यु, कर्त्ता, भोक्ता, अज्ञान, बन्धन, दुःख, नरक इत्यादि भ्रम का मूल कारण जो अनात्माभिमान है, वह शीघ्रातिशीघ्र ऐसे निवृत्त हो जाता है, जैसे किसी धातु का दोष अग्नि या तेज़ाब के द्वारा निवृत्त हो जाता है। जो मुमुक्षु हर प्रकार के साधन में असमर्थ है; वह 'आत्म-निवेदन' अर्थात् सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म परमात्मा की सम्यक् प्रकार से 'अनन्य शरण' हो जाय। इस आत्म-निवेदन का महत्व भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में यहाँ तक कथन किया है कि क्षणमात्र में सारा झगड़ा ही समाप्त कर दिया है--

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

अर्थात् अत्यन्त नीच-से-नीच, दुराचारी-से-दुराचारी, पापी-से-पापी क्यों न हो, यदि वह अनन्य भाव से 'मेरी' (पूर्णब्रह्म परमात्मा की) अनन्य शरण हो जाय तो तत्क्षण ही साधु हो जाता है।

कोई भी दुर्गन्धयुक्त (दूषित) पदार्थ यदि अग्नि में डाल दिया

जाय तो उसका सारा दोष तत्काल ही नष्ट होकर, वह शुद्ध अग्निरूप ही हो जाता है ।

अजामिल, गीध, गणिका, शबरी, बिल्वमंगल, चिन्तामणि इत्यादिकों ने अपने परिच्छिन्न व्यक्तिगत शरीर, मन, प्राण इत्यादिकों के अभिमान को समष्टि अभिमान, व्यापक आत्मा में मिला दिया और यह निश्चय कर लिया कि 'हे पतित पावन, सर्वरूप परमात्मन्! न मैं कुछ हूं, न मेरा कुछ है, केवल एक तू ही है और सब कुछ तेरा ही है।' अर्थात् व्यष्टि अहंता और ममता की भावना को,--जो कि सारे अनर्थों व दुःखों का मूल कारण है,—ऐसे मिटा दिया जैसे कि मानो एक तरङ्ग विशाल समुद्र से प्रार्थना करे कि—'हे समुद्र देवता ! तुझ अथाह जलराशि में मेरा अस्तित्व केवल कल्पनामात्र है,—यदि है भी तो तू ही तरङ्ग रूप से केवल जल ही है।'-- और फिर उसी में लय हो जाय ।

कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में दोनों सेनाओं के मध्य में शोक-सागर में डूबते हुए अर्जुन को नाना प्रकार के संशय से मुक्त करके सुखी व शान्त बनाने के लिये भगवान ने नाना प्रकार के साधनों का उपदेश किया, परन्तु अर्जुन की व्याकुलता उसी प्रकार बनी रही। तब अन्त में, अन्य कोई चारा न देखकर, भगवान् ने एटम बम उठाकर डाल दिया जिसके पड़ते ही अर्जुन का सारा शोक, मोह, अज्ञान, काम, क्रोध, लोभ, भय, चिन्ता, राग-द्वेष, बंधन, अहंता, ममता आदि सारे दुःख क्षणमात्र में स्वाहा हो गये।

भयभीत, कायर, दीन, हीन, शोकातुर अर्जुन सिंह की भाँति गरज कर रथ के ऊपर जा बैठा और कहने लगा कि बस प्रभो! मेरे शोक, मोह व सारे संशय नष्ट हो गये। मुझे पूर्व स्मृति प्राप्त हो गई है अर्थात् सारा अज्ञान निवृत्त हो गया है। अब मैं आप की आज्ञा पालन करने के लिये तैयार हूँ। बस, यहीं पर सारी गीता का उपदेश समाप्त हो जाता है।

वह एटम बम कौन-सा था कि जिसका अन्तिम प्रयोग किया गया था ?—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अर्थात, हे अर्जुन! यदि तू सारे कल्याण के साधनों को करने में असमर्थ है तो सारे अनात्म-अभिमान को त्याग कर केवल मेरी 'एक की' अर्थात् व्यापक चेतन आत्मा की अनन्य शरण 'एक रूप' हो जा। मैं तुझे पापों (दुःखों) से मुक्त कर दूँगा। शोच (चिन्ता) मत कर। यह साधारण लोगों का अर्थ है।

यहाँ विशेष रूप से विचार करने की एक बात यह है कि इस उपदेश को सुनते ही जब अर्जुन तत्क्षण शोक, मोह से मुक्त हो गया तो फिर ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की कि जब तू मेरी शरण होगा, तब तुझे पापों से मुक्त करूँगा अन्यथा नहीं ? जिस प्रकार समुद्र तरङ्गों को यह उपदेश करे कि हे तरङ्गों! तुम लोग जब मेरी शरण होगी, तब तुम मेरा स्वरूप बनोगी और तब तुम्हारा कल्याण होगा,—अन्यथा नहीं।

इस श्लोक में स्पष्ट यही बात सिद्ध होती है कि अभी कर्तव्य (साधन) शेष रहता है। सब साधनों से कठिन साधन 'सर्व धर्म' का त्याग है, क्योंकि कोई भी शरीरधारी जब तक जीवित है तब तक उसके सर्वथा अनात्म शारीरिक व मानसिक धर्म, बाह्य संसार से सम्बन्ध अथवा नाना प्रकार के व्यवहार इत्यादि धर्म कभी समाप्त हो नहीं सकते। तब यहाँ 'सर्व धर्म' और 'त्याग' का क्या तात्पर्य हो सकता है ? 'सर्व धर्म' से तात्पर्य है--'कर्तृत्व, भोक्तृत्व-अभिमान' और त्याग से तात्पर्य है--'सूर्य में रात्रि के अभाववत् चेतन आत्मा में अभिमान, कर्तव्य, साधन, कमी, अज्ञान, बन्धन, दु:ख, पाप आदि के सर्वथा त्रैकालिक अभाव का निश्चय (अनुभव) करना'—जो कि निर्विवाद सिद्धान्त है। इसमें करना कुछ भी नहीं। क्षणमात्र में केवल ऐसा निश्चय ही किया जाता है।

किसी भी प्रकार से या किसी कारण से चेतन जड़ नहीं हो सकता तथा जड़ चेतन नहीं हो सकता। फिर चिन्ता किस बात की ? क्षणमात्र में ही इस परम रहस्य को समझ कर, अर्जुन ने उसी समय अपने घोड़े की बागडोर प्रभु के हाथों में समर्पण कर दी और सारी चिन्ताओं से सर्वथा रहित होकर कह दिया कि लीजिये श्रीमान् जी ! चाहे तो विजय के गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दीजिये और चाहे मृत्यु के घाट उतार दीजिये ! यह रही अब आपकी मर्जी। यह व्यावहारिक जीवन की निर्भयता व निश्चिन्तता का स्वरूप है। यही एक सर्वोत्कृष्ट, परम सुखद रहस्य

है जिसे केवल समझनाभर ही है, करना कुछ भी नहीं है।

अर्जुन की भाँति अपने मन व प्राणों की अहंता, ममता एवं आसक्ति की बागडोर प्रभु के चरणों में निवेदन करके जो सर्वथा निर्द्वन्द हो जाते हैं अर्थात् सर्वात्मरूप का निश्चय कर लेते हैं, उनके योग-क्षेम (कल्याण) के ठेकेदार प्रभु स्वयं हो जाते हैं। फिर उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता की आवश्यकता नहीं रहती कि मेरा मन बड़ा चंचल है, मैं पाप से मुक्त कैसे होऊँगा ? मेरा उद्धार कैसे होगा ? मुझे भगवान की प्राप्ति कैसे होगी ?—इत्यादि। फिर सारे कर्तव्य समाप्त हो जाते हैं।

यह संसार ही कुरुक्षेत्र की भूमि है जिसमें दैवी व आसुरी प्रवृत्तियाँ (गुण) ही पाण्डव तथा कौरवों की सेनायें हैं। यह शरीर रथ है; प्राण व इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन व बुद्धि घोड़ों की लगाम है, जीवात्मा (चिदाभास) अर्जुन है तथा भगवान श्री कृष्ण सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म सर्व के 'अपने आप' (अन्तरात्मा) हैं।

देहात्मवादी, अनात्माभिमानी, कर्मों के कर्ता-भोक्ता इस चिदाभास को ही श्रीकृष्ण रूपी अग्नि में स्वाहा करके वही रूप कर देना है।

बीज यदि चाहे कि वह फूलता-फलता बड़ा विशाल वृक्ष भी बन जाय और बीज भी बना रहे, तो ये दोनों बातें कभी हो नहीं सकतीं। उसे तो अपने दीन-हीन, परिच्छिन्न व्यक्तित्व को मिटाना ही पड़ेगा। बीज का केवल इतना ही कर्तव्य है कि वह अपने आपे को पृथिवी के हवाले कर दे। आगे के लिये उसे

चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं है कि हमारे अन्दर से अंकुर कैसे निकलेगा? पानी कौन देगा? मैं बढ़ूंगा कैसे? मुझ पर फूल-फल कैसे लगेंगे? आगे का जो कार्यक्रम है, वह प्राकृतिक अटल नियमों के द्वारा स्वयं ही अवश्यमेव होता रहेगा या होता है। किसी भी बात के लिए बीज को व्याकुल होने की कोई आवश्यकता ही नहीं।

सच्चे मन एवं अनन्यभाव से अपने आप को एक बार प्रभु के हवाले कर देना है अर्थात् इस जीवन में एक ही बार प्रभु को समर्पण करना है,—बार-बार नित्यंप्रति नहीं करना। कोई एक ही वस्तु किसी को एक ही बार दान दी जाती है, नित्यंप्रति बार-बार नहीं दी जाती।

दान के पश्चात् उस वस्तु के ऊपर अपना कोई भी अधिकार व महत्व नहीं रहता। यदि उस वस्तु में ममत्व बना रहता है तो समझो कि उसे दिया ही नहीं। इस प्रकार की शरणागति मध्यम कोटि की है। इसमें मानो उसने किसी वस्तु को अपना माना तो था, किन्तु समर्पण करके अपने ममत्व को निवृत्त कर लिया है।

उत्तम कोटि की शरणागति तो इस प्रकार की होती है कि जिस प्रकार से तरङ्ग सदैव समुद्र की शरण में ही है, होना हुवाना कुछ नहीं। जिस प्रकार मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी कभी किसी वस्तु को, उसी वस्तु के स्वामी को दान नहीं कर सकता, न उसके हाथ बिक्री ही कर सकता है, क्योंकि जो वस्तु प्रथम से ही जिसकी है, उसे फिर देना और लेना क्या?

जिसके अन्तर्गत यह सारा चराचर जगत, 'मैं' और 'मेरी' सारी सम्पत्ति तथा सारा कुटुम्ब परिवार भी गर्भित है, जिसका मालिक स्वामी सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म परमात्मा है जो कि सर्व का अपना आप आत्मा ही है, तो फिर उसे कौन और क्या देगा ? जब कि उससे भिन्न कोई वस्तु ही नहीं तो देना-लेना कैसा ? इस प्रकार का निश्चय (ज्ञान) ही उत्तम कोटि की शरणागति एवं आत्म-निवेदन है । अस्तु !

आत्म-ज्ञान तथा आत्म-निवेदन,--ये दोनों साधन अपने आनन्द स्वरूप आत्मा को अनुभव करने के लिये परमोत्कृष्ट उपाय हैं । यही शास्त्रों, ऋषि-मुनियों तथा महात्माओं का अनुभव एवं सिद्धान्त है और यही हम लोगों की परम शान्ति तथा कल्याण का एकमात्र उपाय है ।

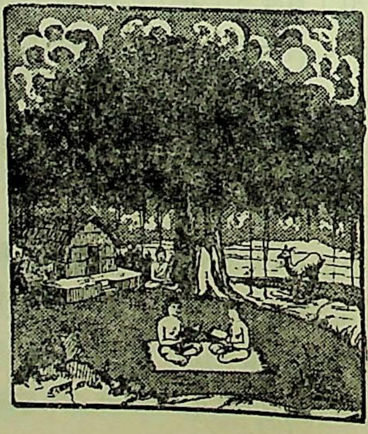

बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग साधन

मन-इन्द्रियों का विषय यह जितना भी नाना प्रकार का नामरूपात्मक भौतिक जगत् है, सारे का सारा मूर्ति है। किसकी मूर्ति है ? चेतन ब्रह्म की ! तात्पर्य यह है कि जगत् में कोई भी ऐसा शरीरधारी नहीं होगा जो मूर्तिपूजक न हो। पूजने का तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार से इस नामरूप को मानना, व्यवहार करना अथवा आदर-सत्कार करना। संसार के अन्तर्गत मन-इन्द्रियों के प्रयोग में आने वाली ऐसी कोई भी वस्तु न होगी जो कि अमूर्त हो अर्थात् सब मूर्तिमान ही हैं।

मन्दिर, मसजिद, गिरजा (चर्च), किसी भी प्रकार की पुस्तक अथवा कोई दिशा, अग्नि, सूर्य, जल, फोटो इत्यादि को मानना मूर्तिपूजन ही है। माता, पिता, गुरु, स्त्री, बच्चे, अपना शरीर, घर, वस्त्र, भोजन आदि का सेवन या व्यवहार करना भी मूर्ति-पूजन ही है। सारांश यह है कि जितने भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरधारी प्राणी हैं और जो कुछ भी मन-इन्द्रियों के द्वारा शुभाशुभ कर्म कर रहे हैं, वह सब मूर्तिपूजन ही है। कोई भी शरीरधारी प्राणी निराकारवादी कदापि हो नहीं सकता, क्योंकि सभी भाव पदार्थ साकार ही हो सकते हैं। जिस वस्तु का त्रिकाल

में अभाव हो, निराकार तो वही हो सकती है, जैसे असत् वन्ध्या-पुत्र, बेंत के फल-फूलादि ।

जिस सत्-चित्-आनन्द सत्ता को निराकार कहा जाता है, सो वह सत्-चित्-आनन्द सत्ता भी किसी मूल तत्त्व का सूक्ष्म आकार या स्वरूप ही तो है। यदि कोई यह कहे कि निराकार ब्रह्म तो कल्पनातीत एवं मन-इन्द्रियों से परे है, तो फिर यह ज्ञान कैसे हुआ कि वह मन-इन्द्रियों का विषय ही नहीं है ? यदि अतीत होने का ज्ञान हुआ, तव तो फिर वह वृत्ति का विषय हो ही गया और यदि यह कहो कि उसका ज्ञान नहीं हो सकता, तो फिर यह बात जानी कैसे कि वह कल्पनातीत है ? फिर तो ये वेद-शास्त्र व्यर्थ ही होंगे ।

यदि वह तत्त्व, मन-इन्द्रियों से परे है, तो फिर यहां कौन है ? इसलिये जो तत्त्व सर्वत्र व्यापक या पूर्ण हो, उसमें परे, उरे अथवा विषय, अविषय का कोई प्रश्न ही नहीं वन सकता। फिर वह निराकार कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

अत: बाध्य होकर निराकार शब्द का यही लक्षण करना पड़ेगा 'निर्गत: आकार: यस्मात् स निराकार:' अर्थात् निकले हैं सारे आकार जिससे, वह निराकार। इससे यह बात सिद्ध हुई कि चेतन ब्रह्म ही सूक्ष्मरूप से निराकार एवं स्थूलरूप से साकार जगत् है। किन्तु प्रत्येक व्यवहार साकार, स्थूल में ही हो सकता है, निराकार सूक्ष्म में कदापि हो नहीं सकता, जब तक कि सूक्ष्म का सम्बन्ध स्थूल से न हो जाय। जैसे निराकार अग्नि व विद्युत

से तभी व्यवहार या क्रिया हो सकती है जबकि साकार मनुष्य, लकड़ी, यन्त्र, तार आदि का सम्बन्ध हो जाय अथवा जैसे मनुष्य का सूक्ष्म शरीर जब तक स्थूल से सम्बन्धित न हो, तब तक किसी भी प्रकार का व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिये मन-इन्द्रियों के द्वारा जितने भी व्यवहार हो रहे हैं, वे सब मूर्ति पूजा ही हैं। अस्तु!

किस प्रकार के मूर्तिपूजन से ईश्वर की प्रसन्नता हो सकती है? उसका वास्तविक रूप या प्रकार इस प्रकार से है,—स्नान, शृङ्गार, धूप, दीप, आरती, नैवेद्य या भोग आदि,—यह मूर्तिपूजन के अंग हैं।

(१) स्नान—जिस देश काल में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों के पीने, स्नान करने, वस्त्रादि धोने के लिये जल की कमी हो, वहाँ पर्याप्त मात्रा में जल का प्रबन्ध कर देना ही भगवान् का स्नान है।

(२) शृङ्गार—किसी भी वस्त्र-रहित मनुष्य को वस्त्र बनवा कर उसकी कमी को पूरा कर देना अथवा अपने मन को नाना प्रकार के शुभ गुणों से सजा देना ही भगवान् का उत्तम शृङ्गार है।

(३) धूप—किसी भी नगर, ग्राम, घर, गली आदि स्थानों में किसी भी प्रकार की गन्दगी, दुर्गन्ध आदि कारणों से वायु-मण्डल दूषित हो गया हो कि जिससे नाना प्रकार के रोगों का भय हो, ऐसे स्थानों की गन्दगी को दूर करके, दुर्गन्ध को मिटा-कर, दूषित वायु-मण्डल को शुद्ध करने वाली फिनायल, डी. डी. टी.

आदि कीटाणुनाशक द्रव्यों का प्रयोग ही भगवान् को धूप देना है।

(४) दीप—जिस देश-काल में अन्धकार हो कि जिसके कारण जनता-जनार्दन को कष्ट हो रहा हो, ऐसे स्थानों को प्रकाशित करना अथवा अपने अन्तःकरण के अज्ञान को निवृत्त करके नाना प्रकार की विद्याओं या आत्मज्ञान से प्रकाशित करना ही भगवान् को दीप देना है।

(५) आरती—अविद्या या अज्ञान के द्वारा कहीं भी यदि मानव समाज में अन्धकार फैल रहा हो कि जिसके कारण जनता विद्या व विचार-शक्ति से वञ्चित रहती हो, ऐसी अशिक्षित जनता में नाना प्रकार के विद्यालयों, विद्याओं एवं आध्यात्मिक उपदेशों के द्वारा जनता-जनार्दन की व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक अविद्या को दूर करना ही भगवान् की आरती उतारना है।

(६) नैवेद्य—जिस देश-काल में जनता क्षुधा (भूख) से पीड़ित हो वहाँ उसको अथवा घर पर आये हुए भूखे प्राणी को भोजनादि के द्वारा मानव-भगवान् की जठराग्नि को आहुति देकर उनकी भूख को शान्त करना ही भगवान् को भोग लगाना है।

इस प्रकार का मूर्तिपूजन ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा की परम प्रसन्नता का परम साधन है अर्थात् इस जनता को ही जनार्दन का रूप समझ कर यथाशक्ति सेवा करना मूर्तिपूजा का वास्तविक तात्पर्य है।

मूर्तिपूजन एक प्रकार से परमहंस वृत्ति (भावना) है। दो

प्रकार के तत्त्ववेत्ता हुआ करते हैं,—एक तो 'हंस', दूसरे 'परमहंस' अर्थात् विवेकी एवं ज्ञानी या दूसरे शब्दों में द्वैत मतानुयाई, सांख्य-वादी और दूसरे अद्वैतवादी वेदांती।

हंस--मिले हुए दूध एवं जल को पृथक्-पृथक् करके जो दूध को तो ग्रहण कर ले और जल का त्याग कर दे। तात्पर्य यह है कि इस जड़-चेतन (पुरुष-प्रकृति) मय जगत् को जो विचार द्वारा विभक्त करके, चेतन तत्त्व को अपना आत्मा मान कर, मन-बुद्धि-प्राण-शरीरादि संघात से चेतन आत्मा को असंग, नित्यमुक्त निश्चय करे अथवा चेतन से अतिरिक्त सारे संघात को जड़ प्रकृति निश्चय करे। इस प्रकार के निश्चय वाले को ही विवेकी या हंस कहते हैं।

परम हंस—अभी तक जिस जड़ तत्त्व, प्रकृति या माया की सत्ता को चेतन तत्त्व से भिन्न मानते थे, अब उस जड़ तत्त्व को भी चेतन सत्ता में लय करके केवल एक चेतन ब्रह्म को ही सर्व रूप अनुभव करना, जैसे जल को भी दूध में ही लय कर देना अर्थात् जल-दृष्टि को भी समाप्त कर देना, यही परमहंस का लक्षण है। तात्पर्य यह निकला कि अभी तक जिन पाषाणादि तत्त्वों को प्रत्यक्ष में जड़ देखते थे, अब उन्हीं को,—बर्फ को जलरूप वत्,—चेतन तत्त्व ही अनुभव करने वाला परमहंस कहा जाता है।

जिस प्रकार की मूर्ति-पूजा हिन्दू जैनी एवं बौद्ध समाज में प्रचलित है, इस प्रकार के पूजन या भावना से जड़त्व निवृत्त न होकर और भी अधिक दृढ़ हो जाता है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष चेतन

का तिरस्कार किया जाता है। यदि मन्दिर में कोई पशु, पक्षी या भूखा मनुष्य चला जाय तो उसे मार-पीट कर बाहर निकाल दिया जाता है। जबकि मन्दिर को भगवान् का निवास-स्थान माना जाता है, तो वहाँ हर प्रकार के प्राणी को जाने का अधिकार होना चाहिये। क्या यह बात किसी से छिपी हुई है कि एक बार एक कुत्ता सारी रोटी लेकर भागा तो श्री नामदेव घी की कटोरी लेकर यह कहते हुए उसके पीछे-पीछे भागे कि प्रभो! रोटी चोपड़ देने दो। इन बातों से यह सर्वथा सिद्ध हो गया कि इन मूर्ति-पूजकों में चेतन-भावना भक्त नामदेव जैसी होनी चाहिए।

प्रत्यक्ष में भासने वाला यह नाम-रूपात्मक स्थूल जगत् ही सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म का स्थूल शरीर या मूर्ति है, जिसमें हम लोगों के स्थूल शरीर ही मन्दिर हैं। इन शरीरों में चलने वाले श्वास ही प्राण-प्रतिष्ठा है और इनमें विराजमान चेतन आत्मा ही साक्षात् ईश्वर है। सारांश यह है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का निश्चय ही परमहंस वृत्ति है। कविराय गिरधर लिखते हैं:—

परमहंस की वारता सुन ले मेरे यार,
जैसे उसको वेश्या तैसे ठाकुरद्वार।

तैसे ठाकुर द्वार, रंच न राखे राई,
अर्जुन को यही उपदेश दियो है कृष्ण कन्हाई।

कहि गिरधर कविराय जिन माना एकहि कृष्ण और कन्स।
सच्चा सोई ज्ञानवान और पूरा ओही परमहंस॥

योग साधन

परमहंस वृत्ति की प्राप्ति के लिए योग एक प्रशस्त साधन है। मूर्तिपूजन का वास्तविक उद्देश्य चेतनानुभूति की उत्तरोत्तर वृद्धि है। इसी लक्ष्य की सिद्धि योग साधन में समाधि द्वारा होती है, अतः यहाँ योग के विषय में थोड़ा विचार उपयुक्त होगा।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—चित्त की वृत्तियों का निरोध कर देना ही 'योग' है। हर प्रकार की सफलताओं की यही एकमात्र कुञ्जी है। प्रत्येक कार्य, फल, संकल्प एवं इच्छा की पूर्ति या सिद्धि इसी साधन के द्वारा सुगमता तथा शीघ्रता पूर्वक हो सकती है। यह तथ्य युक्ति, अनुभव, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक कसौटियों पर पूरा उतर चुका है। अतएव इस बात का विचार किया जाता है कि 'चित्त वृत्ति निरोध' का क्या तात्पर्य है?

योगदर्शन की पद्धति से इनका विचार नहीं किया जायगा, किन्तु स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत किया जाता है।

अन्तःकरण की एक ही वृत्ति जब संकल्प-विकल्प करती है तब मन❀, जब निश्चय या विचार करती है तब 'बुद्धि', जब चिंतन

❀ मन का दूसरे प्रकार से लक्षण—संकल्प व विकल्प,—दो प्रकार की वृत्तियों के संयोग का नाम ही 'मन' कहलाता है। संकल्प चेतन का अंश है, इसीलिये पहिले एक बार शुद्ध व सार्थक उठता है। विकल्प जड़ का अंश है, इसीलिये बाद में बार-बार अशुद्ध व व्यर्थ उठता रहता है। अतः मन के 'विकल्प दोष' को निवृत्त करना ही अन्तःकरण की शुद्धि है अथवा विचार द्वारा 'विकल्प दोष' को जड़ प्रकृति में तथा संकल्प को चेतन में लय कर देने से मन की सत्ता ही नहीं रहती।

करती है तब 'चित्त' तथा जब 'अभिमान' (मैं-पन की भावना) करती है तब 'अहंकार' के नाम से कही जाती है। वृत्ति के इन सभी व्यापारों के समाप्त हो जाने को ही 'वृत्तिनिरोध' कह सकते हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि वृत्ति में चंचलता ही क्यों है जिसे निरोध करने की आवश्यकता है ?

किसी रोग की चिकित्सा करने से प्रथम उसका निदान (कारण का निश्चय) कर लेने से सरलता व शीघ्रतापूर्वक रोग की निवृत्ति हो सकती है।

मन का स्वभाव ही यदि चंचल हो, तब किसी भी साधन से कदापि निरुद्ध हो नहीं सकता। जैसे अग्नि का स्वभाव ऊष्ण है, अतः अग्नि के रहते हुए उसकी ऊष्णता (दाहकता) अवश्यमेव रहेगी। इससे यह बात सिद्ध हुई कि किसी चंचल पदार्थ के संयोग से ही मन में चंचलता आई है। इसीलिये शास्त्रकारों ने मन का स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक माना है।

मन का अपना स्वरूप केवल संकल्प अर्थात् वृत्ति रूप है। चंचल विषयों व इन्द्रियों के संयोग से मन में विकल्प-दोष प्रवेश कर जाता है अथवा दूसरे प्रकार से यह भी कह सकते हैं कि चंचल (क्रियात्मक) प्राणों के संयोग से मन चंचल हो जाता है।

इस चंचलता का निरोध करने के लिये दो प्रकार के योग को प्रधानता दी गई है,—राजयोग और हठयोग।

राजयोग से तो विचार, ध्यान इत्यादि साधनों द्वारा विकल्प-

दोष निवृत्त होकर मन शुद्ध तथा एकाग्र हो जाता है। हठयोग से आसन, प्राणायामादि साधनों द्वारा प्राण का निरोध हो जाने से मन की चंचलता निवृत्त हो जाती है, क्योंकि मन तथा प्राण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है अर्थात् मन के रुकने से प्राण रुक जाता है और मन के चल पड़ने से प्राण भी चल पड़ता है। ऐसे ही प्राण के रुक जाने से मन रुक जाता है और प्राण के चलने से मन भी चलायमान होता है।

उपरोक्त दोनों प्रकार के योग साधनों का विचार करने से प्रथम मन की एकाग्रता तथा निरोध के रहस्य, महिमा व परिणाम का विचार करना अत्यावश्यक होगा।

कच्चे सूत्र के द्वारा यदि किसी वस्तु को बाँधना चाहें तो बँधने से पहले सूत्र ही टूट जायगा। उसी सूत्र-गुच्छ को एकत्रित करके यदि एक मोटा रस्सा बना लिया जाय तो उसके द्वारा बलवान् हाथी को भी बाँध सकते हैं।

इसी प्रकार से हमारे चित्त (मन) की वृत्तियां कच्चे सूत्र की भाँति, नाना प्रकार के सांसारिक पदार्थों के चिन्तन या इच्छाओं के द्वारा छिन्न-भिन्न हो रही हैं। यदि इन्हीं बिखरी हुई वृत्तियों को ध्यान के द्वारा किसी एक लक्ष्य पर एकाग्र (केन्द्रित) कर दें तो मनोबल के बढ़ जाने से इच्छापूर्ति एवं कार्य या संकल्प की सिद्धि हो जाती है।

इसी बात का वैज्ञानिक ढङ्ग से विचार किया जाता है। जिस प्रकार से विद्युत् करैण्ट,—नैगेटिव–पोजेटिव पाइन्ट बल्ब में होते

हुए भी, तब तक क्रियात्मक होकर प्रकाश के रूप में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता जब तक कि दोनों पॉइन्ट्स का संयोग न हो जाय। इसी प्रकार मन व आत्मा का संयोग होने से ही मन शक्तिशाली होकर सारे संकल्पों को सिद्ध (पूर्ण) कर सकता है।

ध्यान से एकाग्रता होती है, एकाग्रता से आत्मा और मन का संयोग होता है, आत्म-मन-संयोग से मन शक्तिशाली होता है।

दूसरी युक्ति से भी इस बात का विचार किया जाता है। माचिस के ऊपर वही मसाला लगा होता है जो सींक या तीली (शलाका) में होता है, किन्तु जब तक उस तीली में लगे मसाले को डिब्बी के ऊपर लगे मसाले से संयोग करके घिसा न जाय, तब तक उसमें रहने वाली अग्नि प्रत्यक्ष होकर अपना कार्य नहीं कर सकती।

इसी प्रकार आत्मा में वही चेतन तत्त्व और मन में भी वही चेतन तत्त्व है। जब मन विकल्प से रहित होकर एकाग्र हो जाता है, तभी इसका संयोग आत्मा से होता है। फिर वही चैतन्य सकल्प-सिद्धि या शक्ति के रूप में प्रत्यक्ष हो जाता है जिससे प्रत्येक संकल्प या कार्य की सिद्धि होती है।

एक बड़े रहस्य की बात यह है कि संसार के किसी भी पदार्थ में वृत्ति एकाग्र हो जाय तो उस पदार्थ में जो व्यापक चेतन (ईश्वर) है, वही आत्मरूप से प्रत्यक्ष हो जाता है,—और ईश्वर का आत्मरूप से अनुभव हो जाना ही मोक्ष या कल्याण है।

हठयोग

उपरोक्त दोनों प्रकार के योग-साधनों को करने के लिये कुछ संयम तथा नियम पालन करने की आवश्यकता है। सर्व प्रथम साधक को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यदि पेट में मल व वायु की अधिकता होगी तो अभ्यास में बैठने पर शरीर में आलस्य, नींद, थकावट आदि का अनुभव होने लग जायगा, वृत्ति चंचल हो जायगी और रुकेगी नहीं। इसलिये साधक को रेचक-औषधि अथवा रेचक आसनादि उपचारों के द्वारा सर्व प्रथम पेट को अवश्य साफ़ कर लेना चाहिये।

रेचक औषधि:—गुलाब के फूल, सौंफ, मुलहठी,—यह तीनों समभाग लेकर, इनको कपड़छान करके इस चूर्ण के चतुर्थांश सोडा-बाई-कार्ब इसमें मिलादें। इस कुल चूर्ण का आधा भाग देशी चीनी इसमें मिलाकर शीशी में रख लें। रात को सोते समय, प्रकृति के अनुसार, छै माशे से डेढ़ तोले तक, एक गिलास ताजे जल के साथ लेवें तो प्रातः ४ बजे उठते ही पेट साफ हो जायगा।

साधक को दो अथवा तीन बजे अवश्य उठ जाना चाहिये। इसके पश्चात् अभ्यास में बैठने से प्रथम पाँच मिनट का पश्चिमोत्तान आसन अवश्य कर लेना चाहिये। इस आसन से शरीर के आलस्य, थकावट आदि साधन के विघ्न नहीं आयेंगे। इसके साथ-साथ चन्द्रस्वर का जल तत्व अवश्य चला दे, क्योंकि जिस मन को रोकना है, उसका देवता चन्द्रमा है। शीतल व

शान्त स्वभाव वाले चन्द्रमा से *चन्द्रस्वर के द्वारा मन का सीधा सम्बन्ध हो जाने के कारण, मन में शीतलता व शान्ति आ जाती है ।

रेचक आसन:—प्रात:काल शौच से प्रथम दो गिलास पानी पीकर भूमि पर शव-आसन से लेट जाय। कमर को न उठने दे। पैर की एड़ी से लेकर जंघा तक के भाग को सीधा रखते हुए ही धीरे-धीरे पृथिवी से ऊपर उठावे। दो फिट तक ऊपर उठाकर फिर धीरे से एड़ी को भूमि पर टिका दे। इसी प्रकार से दोनों पैरों को ऊपर ले जावे तथा नीचे लावे। तीन बार हो जाने पर खड़ा हो जाय। इसके बाद शौच जाने पर पेट अच्छी तरह से साफ हो जायगा।

अभ्यास करने के स्थान, आसन इत्यादि:—अगरबत्ती, पुष्प आदि से सुगन्धित व सुसज्जित एकान्त कुटीर में कुशासन, गद्दी, कम्बलादि आसन नित्यप्रति एक ही स्थान पर बिछावे। आसन पर स्वस्तिक (सुख) आसन से बैठे। इस आसन की विधि इस प्रकार है कि बायें पैर की एड़ी गुदा और उपस्थ के मध्य में केवल छुई रहे। फिर उसी पर दाहिना पैर रखे। कमर, पीठ, ग्रीवा

---

*चन्द्रस्वर चलाने की विधि:—जिस स्वर को चलाना हो उस स्वर को ऊपर अर्थात् शरीर के दाहिने भाग को नीचे एवं बाएं भाग को ऊपर करके, बाएं करवट लेट जाय। फिर अन्दर की सारी वायु को नाक के द्वारा बाहर निकालकर ३-४ बार बाह्य कुम्भक करने से चन्द्रस्वर चलने लगेगा। इसी प्रकार सूर्यस्वर भी चला सकते हैं ।

सीधी रखे। अभ्यास-कुटी में अन्य किसी को आने-जाने न दे, ताकि कुटी के पवित्र परमाणु दूषित न होने पावें।

लययोग : ध्यान की विधि १—प्रत्येक शरीरधारी प्राणी के अन्दर से बाहर जाने वाले श्वास से 'हम्' की तथा भीतर आने वाले श्वास से 'सो' की ध्वनि निकल रही है। इसका अर्थ यह है—'सो' अर्थात् व्यापक, चेतन, ब्रह्म और 'हम्' अर्थात् अपने आप (आत्मा)। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक शरीरधारी को श्वास-प्रश्वास से यह प्राकृतिक सूचना दी जा रही है कि हे शरीरधारी प्राणी! तू यह शरीर नहीं है, तू व्यापक चेतन है। इसी प्रकार अपने प्रत्येक श्वास का ध्यान करे। इस प्रकार से एक घण्टा ध्यान करने से वृत्ति एकाग्र होने (रुकने) लग जायगी। जब दो घण्टे का ध्यान होगा तब वृत्ति निरुद्ध होने लगेगी। जब एक ही आसन से तीन घन्टे ध्यान होने लगेगा, तब समाधि का अनुभव होने लगेगा।

२—उपरोक्त प्रकार से अर्थ सहित 'ॐ' का ध्यान करने से भी एकाग्रता, वृत्तिनिरोध एवं समाधि का अनुभव हो सकता है।

३—'यथाभिमत ध्यानात् वा'—अर्थात् जो उपरोक्त एवं भिन्न-भिन्न अन्य साधनों में असमर्थ है, उसका जिस वस्तु में सबसे अधिक राग हो, वह उसी का ध्यान करे। राग वाले पदार्थ का ध्यान करने से सरलता व शीघ्रता पूर्वक वृत्ति का निरोध हो जाता है। जिसका ध्यान करने से वृत्ति निरुद्ध हो गई है, उसी में

व्यापक जो ईश्वर चेतन है, आत्म रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है। ईश्वर का आत्म रूप से प्रत्यक्ष हो जाना ही मोक्ष या कल्याण है।

जिस प्रकार नैगेटिव-पॉज़ेटिव पाइन्ट का जब, जहाँ, जिस मशीनरी, पंखा या बल्बादि में संयोग होगा, वहीं, उसी समय और उसी वायर में विद्यमान विद्युत शक्ति क्रियात्मक रूप से प्रत्यक्ष हो जायगी। अर्थात् विद्युत शक्ति का जिस मशीनरी से सम्बन्ध होगा, वही काम करने लग जायगी। इसी प्रकार से प्रत्यक्ष हुई आत्मिक शक्ति से जिस इच्छा या संकल्प का सम्बन्ध होगा, वही कार्य सिद्ध हो जायगा।

सर्वोत्तम राजयोग

४—इसको लययोग भी कह सकते हैं। वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार मनोनिग्रह एवं सर्वात्मभाव के दृढ़ एवं अपरोक्ष अनुभव के लिये यह साधन सर्वोत्कृष्ट है। इसकी विधि इस प्रकार से है:—उपरोक्त प्रकार से बैठकर इस बात का ध्यान करे कि मन में किसी भी प्रकार का कोई भी शुभाशुभ संकल्प या चिन्तन न होने पावे। मन को सर्वथा शून्य (कल्पना रहित) कर देवे। मन की यह स्थिति जब तक रहे, रहने दे। पश्चात् जब किसी भी प्रकार का चिन्तन होने लग जाय तो मन को स्वच्छन्द छोड़ देवे, जहाँ जाय जाने दे तथा जिस (वस्तु) का चिन्तन करे करने दे,—परन्तु जिस वस्तु का भी मन चिन्तन करे उसी में ईश्वर की भावना करे।

आकाश में पक्षी कितना भी इधर-उधर उड़े, परन्तु आकाश

को छोड़कर जायगा कहाँ ? समुद्र में मछली कितना भी इधर-उधर भागती फिरे, परन्तु समुद्र को छोड़कर कहाँ जा सकती है ? इसी प्रकार से सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ईश्वर सब जगह, सब समय एवं सब में व्यापक या पूर्ण है, तब क्या मन सहित समस्त चिन्तनीय पदार्थों में भी वही नहीं है ? यदि है, तो उसी का चिन्तन भी हुआ।

तात्पर्य यह है कि सभी नामरूपात्मक दृश्यमान पदार्थ, जिनका मन चिन्तन करता है, अधिष्ठान (ईश्वर) में अध्यस्त हैं। अधिष्ठान से अतिरिक्त अध्यस्त की सत्ता न होने से वे सब अधिष्ठान रूप ही हैं। अतः जिस ज्ञानी, योगी एवं भक्त की वृत्ति जितनी ही अन्तर्मुख होगी, वह उतना ही अधिक सुखी व शान्त होगा।

ईश्वर का वास्तविक स्वरूप

ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना भी अत्यावश्यक है। इसके यथार्थ ज्ञान बिना जो होने वाले महान लाभ हैं पूर्णरूप से नहीं हो सकेंगे। इस विषय में लोगों के विभिन्न विचार संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं।

सारे विश्व में लगभग तीन अरब मनुष्य हैं। इनमें से आधे के लगभग किसी-न-किसी प्रकार से ईश्वर के मानने वाले अवश्य हैं। इन में से हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी लोग ईश्वरवादी हैं। शेष अस्सी करोड़ के लगभग बौद्ध, साम्यवादी, वैज्ञानिक, जैनी, सांख्यवादी, मीमांसक (जैमिनी-कपिल) आदि ऐसे लोग हैं जो जगत के होने एवं हर प्रकार के कार्यक्रम में ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। समस्त जगत को कार्य-कारण रूप से धारा-प्रवाह अनदि मानते हैं।

उपरोक्त जो ईश्वरवादी कहे गए हैं, उनमें भी ईश्वर के विषय में नाना प्रकार के मतभेद हैं। एक मत किसी का भी नहीं है। इसलिए अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर और उसके मानने अथवा न मानने के विषय में इतना मतभेद क्यों जबकि ईश्वर एक ही है?

क्या सूर्य, अग्नि, वायु आदि के मानने अथवा अनुभव में भी कोई मतभेद है ? प्रत्येक देश, काल में, प्रत्येक व्यक्ति को इनका एक जैसा ही अनुभव हो रहा है। इसी प्रकार यदि ईश्वर का भी अस्तित्व है और वह सारे जगत में सूर्यवत् एक ही है; तो लगभग आधे से अधिक मनुष्य उसको मानते क्यों नहीं ? जो लोग मानते भी हैं,—वे भी नाना प्रकार से ! ईश्वर के विषय में ऐसे मतभेद देखकर ये प्रश्न स्वाभाविक ही हो सकते हैं। अब इस तथ्य के ऊपर मैं निष्पक्ष होकर कुछ अपने विचार प्रस्तुत करना चाहता हूं।

यहाँ पर दो प्रकार का ईश्वर मानना पड़ेगा, एक तो वास्तविक ईश्वर जो कि प्रत्येक देश-काल में, प्रत्येक व्यक्ति को,—चाहे वह नास्तिक हो अथवा आस्तिक, ईश्वरवादी हो या अनीश्वरवादी, सूर्यवत् एक जैसा अनुभव हो रहा है। चाहे कोई माने या न माने, यह हरएक की अपनी-अपनी स्वतन्त्रता है, परन्तु फिर भी बाध्य होकर मानना ही पड़ता है, क्योंकि अनुभूत वस्तु से इनकार नहीं किया जा सकता।

अतः सर्वप्रथम अनीश्वरवादी नास्तिकों के विषय में विचार करना परमावश्यक है। न+आस्तिक=नास्तिक, अर्थात् जो किसी भी प्रकार की सत्ता को न माने। यदि इस शब्द के अनुसार ही अर्थ किया जाय तो समस्त विश्व में कोई भी मनुष्य नास्तिक हो ही नहीं सकता, क्योंकि किसी-न-किसी प्रकार की सत्ता निर्विवाद सभी को माननी ही पड़ती है।

दूसरे प्रकार के नास्तिक जड़ की सत्ता को तो मानते हैं, किन्तु

चेतन की सत्ता नहीं मानते। इनके विषय में आगे विचार किया जायगा। तीसरे प्रकार के नास्तिक सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ईश्वर को नहीं मानते।

अब उपरोक्त दो प्रकार के नास्तिकों का विचार किया जाता है। सत्ता एवं चेतन (ज्ञान) तो प्रत्येक देश-काल में मानवमात्र को प्रत्यक्ष ही है, इसलिए इससे तो इनकार कर नहीं सकते। यदि इनकार भी कर दें, तो आगे विवश होकर बलात् मानना ही पड़ेगा। अब रही आनन्द की बात! समस्त संसार में ऐसे कौन-से मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरधारी प्राणी होंगे जो आनन्द को चाहते या मानते न हों? अतः यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गई कि सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर को मानते तो सभी हैं, किन्तु जानते नहीं। आगे के विचार से जान भी लेंगे।

चौथे प्रकार के नास्तिक वे हैं जो कहते हैं कि हमारी भावना एवं हृदय के द्वारा निर्मित ईश्वर व धर्म को जो न माने, वही नास्तिक है। नास्तिक की ऐसी परिभाषा तो संग्रहालय में ही रखने के योग्य है। इस प्रकार के नास्तिक बड़े भयंकर होते हैं, क्योंकि इन लोगों के द्वारा अज्ञान एवं अन्धविश्वास की बीमारी फैल जाती है। ये लोग बहुत ही कठिनाई से आस्तिक बनते हैं।

अब उपरोक्त तीन प्रकार के नास्तिकों के विषय में विचार किया जाता है जिसे सभी को समझना परमावश्यक है। एक ऐसे शून्य या अभाववादी नास्तिक को लीजिए जो कि अपने सहित अन्य और किसी भी तत्त्व (वस्तु) की सत्ता मानता ही नहीं।

यदि ऐसे चार्वाक शून्यवादी नास्तिक को भी उपरोक्त तीनों सत्ताएँ मनवा या अनुभव करा दी जायँ तो फिर कोई नास्तिक हो ही नहीं सकता।

शून्यवादी नास्तिक का पूर्वपक्ष यह है कि सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ईश्वर, आत्मा, जगत, प्रकृति, पंचतत्व आदि किसी की भी सत्ता किञ्चित्मात्र है ही नहीं, सबका अभाव है। यह सब आकाश की नीलिमावत् या मरुभूमि के जलाभासवत् केवल प्रतीतिमात्र ही है। इनकी प्रतीति भी तभी तक है, जब तक कि शरीर में प्राण या जीवन रहता है। आगे-पीछे कुछ भी नहीं रहता। 'आद्यान्ते च यन्नास्ति वर्तमानोपि तत्तया' अर्थात् जो वस्तु आदि-अन्त में न हो, केवल वर्तमान में ही भासे, उसकी सत्ता नहीं हुआ करती, केवल प्रतीतिमात्र ही होती है। यह बात सभी को अनुभवसिद्ध है कि शरीर के जन्म लेने से प्रथम एवं मृत्यु के पश्चात् उपरोक्त वस्तुएँ या सत्ताएँ कहाँ रहती हैं? और जिस प्राण या जीवन के द्वारा उपरोक्त सत्ताएँ भासती हैं, वह भी आदि-अन्त में न होने से केवल प्रतीतिमात्र ही है। इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि सभी अभाव या शून्य ही है, है कुछ भी नहीं।

इस शंका का समाधान इस प्रकार से है:—सर्व प्रथम इस बात का विचार किया जाता है कि ऐसा कोई भी नास्तिक संसार में न होगा, जो अपनी सत्ता से इनकार कर दे कि मैं नहीं हूं। यदि शून्यवादी अपनी ही सत्ता से इनकार करदे तो फिर 'वदितो

व्याघात दोष' उपस्थित हो जायगा,—जैसे कोई कहे कि मेरे मुख में जिह्वा नहीं है। यदि जिह्वा नहीं है, तो बोल कैसे रहा है? इसी प्रकार से यदि तू ही नहीं है तो सर्व के अभाव की सिद्धि किसने की अर्थात् जाना कैसे कि कुछ भी नहीं है? इसलिए अभाव का द्रष्टा चेतन या ज्ञान प्रत्येक देश-काल में विद्यमान रहता है, तभी तो वह भाव-अभाव को जानता है कि जन्म से पूर्व एवं मृत्यु के पश्चात् कुछ भी नहीं रहता।

यह बात सिद्ध हो गई कि उपरोक्त तीन सत्ताओं का भाव या अभाव, जीवन या प्राण के भाव या अभाव का द्रष्टा चेतन है, तभी तो यह सब बातें जानी गईं। अतः संसार में कोई नास्तिक हो नहीं सकता क्योंकि सभी को सर्व प्रथम अपनी (ज्ञान) सत्ता पश्चात् जगत (जड़) की सत्ता बाध्य होकर माननी ही पड़ती है। यह दोनों सत्ताएं सर्व के अनुभव सिद्ध प्रत्यक्ष हैं। इन्हीं दोनों सत्ताओं को ही पुरुष-प्रकृति या चेतन-जड़ के नाम से कथन किया जाता है। यही दोनों सत्ताएँ शरीर व आत्मा (ज्ञान व क्रिया) के रूप से प्रत्यक्ष हैं। इन्हीं दोनों सत्ताओं को साकार व निराकार ईश्वर भी कह सकते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सर्व-शक्तिमान ईश्वर ही सर्व का आत्मा (ज्ञान शक्ति) है। तो फिर ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे मनुष्य नहीं कर सकता?

प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त करने की अपूर्व कुञ्जी यह है कि जब हमें इस बात का पूर्णरूप से अनुभव है कि शरीर के होते हुए कभी-कभी ऐसा भयंकर दुःख बलात्कार से आ घेरता है जिसे

बाध्य होकर सहन करना ही पड़ता है,—और मृत्यु तो हर समय सिर पर खड़ी ही रहती है जो किसी को, किसी भी प्रकार से छोड़ती ही नहीं। व्यर्थ में ही इनको तो सहन कर लेना, किन्तु किसी अपूर्व, सुन्दर, स्थाई आनन्दमय अभीष्ट की प्राप्ति के लिये साधन में प्रवृत्त होने से,—किसी भी प्रकार के दुःख व मृत्यु से भयभीत होकर,—पथभ्रष्ट हो जाना कैसा प्रमाद है?

अब वास्तविक ईश्वर के विषय में विचार किया जाता है जो कि सूर्य की भांति जगमगा एवं सागर की भांति लहरा रहा है। वह एक क्षण के लिए भी हम लोगों से पृथक नहीं हो सकता। वह हमारे इतना निकट है कि हम सभी का अपना स्वयं आत्मा ही है।

यह बात सभी के अनुभव सिद्ध है कि जिस वस्तु का नाम होता है, उसका कोई-न-कोई स्वरूप अवश्य होगा, क्योंकि प्रथम वस्तु होती है, पश्चात् उसका नाम होता है। इसलिए ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, भगवान, गॉड, खुदा आदि जिस के नाम हैं,—वहनामी कौन है, उसका स्वरूप क्या है? वह कौन-सा तत्व है जिसके उपरोक्त नाम हैं?

इस प्रकार का प्रश्न होने से उसके स्वरूप का भी विचार अवश्य करना पड़ेगा। उपरोक्त प्रश्न का समाधान करते हुए शास्त्रों एवं स्वानुभव द्वारा ज्ञात होता है कि ईश्वर का स्वरूप सत्-चित्-आनन्द, विभु (व्यापक), सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान आदि है। इससे अतिरिक्त उसका कुछ और स्वरूप मानना ,बालकों का अभिनय मात्र ही होगा।

जब कि ईश्वर व्यापक है तो कौन-सा देश-काल-वस्तु है कि जहाँ, जिस समय एवं जिसमें वह न हो ? अर्थात् वह हर जगह, हर समय, हर वस्तु में व्याप्त है। तात्पर्य यह है कि किसी भी व्याप्य पदार्थ में से व्यापक को पृथक कर देने से व्याप्य की सत्ता ही नहीं रह सकती,—जैसे बर्फ में से अथवा नाना प्रकार के नाम रूपात्मक विभिन्न व विषम व्याप्य वस्त्रों में से यदि व्यापक जल अथवा रूई, ऊन, रेशम आदि निकाल (पृथक) दिये जायं, तो नामरूपात्मक व्याप्य की सत्ता ही समाप्त हो जायगी। यह एक अकाट्य सत्य है। ठीक इसी प्रकार से व्याप्य नाम रूपात्मक जगत में से, व्यापक सत्ता-चेतन-आनन्द को विवेक दृष्टि से पृथक कर दिया जाय तो जगत की सत्ता ही समाप्त हो जायगी।

अब विचार इस बात का करना है कि उपरोक्त नाम तथा लक्षण (स्वरूप) जिसमें घटित होते हैं, वह रहता कहाँ है ? उत्तर है सर्वत्र ! क्या हम सब में भी है ?—अवश्य है ! जैसे गीता के अठारहवें अध्याय में लिखा है कि ईश्वर सर्वभूत प्राणियों के हृदय-देश में विराजमान (विद्यमान) है, अपनी ज्ञान व क्रियाशक्ति द्वारा सभी के मन, इन्द्रियों, प्राणादि को यन्त्र की भांति प्रेरता (संचालन) करता है। इसी प्रकार तेरहवें अध्याय में भी लिखा है कि सम्पूर्ण शरीरों में शरीरधारी क्षेत्रज्ञ (आत्मा) मैं हूँ। उपनिषद् में भी यही बात मिलती है कि समस्त नामरूपात्मक जगत ईश्वर से व्याप्त है अर्थात् सभी भूतों में सत्ता रूप से एवं सभी शरीरधारी प्राणियों के हृदय में आत्मरूप से विद्यमान है।

ईश्वर के निवास-स्थान का तो पता चल गया। अब विचार इस बात का करना है कि वह तत्व कौन-सा है कि जिसमें उपरोक्त सभी लक्षण घटित होते हैं ? इसी तत्व को शास्त्रकारों ने सृष्टिकर्ता, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, घटघटवासी, सर्वशक्तिमान, सर्वाधिष्ठान, जगत का आदिकारण, अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म आदि विभिन्न नामों से कथन किया है। जिस चेतनदेव (ज्ञान) की उपरोक्त प्रकार से महिमा व लक्षण का सभी वर्णन कर रहे हैं, उसी को लक्ष्य करके यदि किसी से भी प्रश्न किया जाय कि आप जड़ हैं या चेतन ?—तो ऐसा कोई भी मनुष्य न होगा जो स्वयं को चेतन न कह कर जड़ कहे। इससे यह बात सिद्ध हो गई कि सर्वशक्तिमान ईश्वर ही ज्ञान (चेतन) रूप से सर्व का अपना स्वयं आत्मा है।

जब कि यह सिद्धान्त सर्व तंत्र स्वतंत्र सत्य है, तो फिर इस परम विशुद्ध ज्ञानदेव (चेतन) को जीव, दीन, हीन, दुःखी, कर्ता, भोक्ता, पापी, बंधा हुआ, पराधीन, तुच्छ, असमर्थ, ईश्वर से भिन्न, उसका दास एवं उससे शासित मानना मानो ईश्वर को छिन्न-भिन्न करके उसका मटियामेट करना ही है। इस प्रकार उसकी महिमा को नष्ट-भ्रष्ट करने वालों को ही शास्त्रकारों ने 'आत्म-घाती' नाम से कथन किया है। मातृ-हत्या, पितृ हत्या, गुरु-हत्या, गौहत्या आदि जितनी भी संसार में महान से महान हत्यायें हैं, उन सभी से महान पातकी 'आत्म-हत्यारा' है।

यहाँ पर बहुत से लोग शंका कर बैठेंगे कि जब प्रत्यक्ष नाना

प्रकार के दुःखों, पराधीनताओं, असमर्थताओं को हम लोग अनुभव कर रहे हैं, तो फिर अपने को जीव न मान कर सर्व-शक्तिमान ईश्वर कैसे मान लें ? इस प्रश्न का उत्तर एक उदाहरण द्वारा दिया जाता है ।

हम लोग नित्यंप्रति स्वप्न देखते हैं। मान लो, एक व्यक्ति स्वप्न में कहीं यात्रा करने निकला। साथ में नौकर, बिस्तरा, ट्रंक आदि और बहुत सा सामान एवं पांच हज़ार रुपया भी है। कार द्वारा स्टेशन पर जाकर, फर्स्टक्लास का टिकट लेकर सीट रिज़र्व कराई। नौकर ने सीट पर बिस्तरा लगा दिया और गाड़ी चल पड़ी। आगे जाकर बैरा ने भोजन का थाल सामने रखा। भोजनोपरान्त विश्राम किया। तत्पश्चात् तीन बजे चाय आदि पिया। इसी प्रकार भोजन, चाय, फल आदि समय-समय पर आता रहा।

अब गाड़ी को गन्तव्य स्थान पर पहुँचने में केवल दो घण्टे शेष रह गए थे कि बैरा ने ५० रुपये का बिल बनाकर सामने रखा। रुपया पैमेन्ट करने के लिए जब कोट की जेब में हाथ डाला तो मनीबेग है ही नहीं। पतलून, वास्कट, कमीज़ आदि की जेब एवं अटैचीकेस आदि खोलकर बहुतेरी खोज की, किन्तु रुपया नहीं मिला।

घबराहट से चेहरा फक हो गया। रुपये चले जाने की तो कोई भी बात नहीं थी, किन्तु अब बिल कैसे पैमेन्ट किया जाय ? इस समय के कुली, टैक्सी आदि के लिए पैसा है नहीं। कोई

परिचित भी नहीं है। बहुत ही शोकसागर में डूबने लगा। हो सकता है रुपया किसी पाकिटमार ने निकाल लिया हो।

यात्री कच्चा वेदान्ती था। सर्वप्रथम तो ईश्वर से प्रार्थना प्रारम्भ की कि हे सर्वशक्तिमान प्रभो! इस समय मेरी लज्जा रखो! मुझे केवल सौ रुपये किसी प्रकार से दे दीजिए। पश्चात टेलीग्राम द्वारा रुपया घर से मंगा लूंगा। बहुत प्रार्थना करने पर भी ईश्वर के द्वारा रुपया न मिल सका। पश्चात् वेदान्त की कुछ बातें स्मरण आईं। तब मन में विचार करने लगा कि 'अयमात्माब्रह्म' अर्थात् जबकि मैं ही सर्वशक्तिमान ईश्वर हूँ और सारा विश्व मेरे ही संकल्प की रचना है तो मेरे सत् संकल्प से सौ रुपया मेरी जेब में आ जाय। किन्तु ऐसा ध्यान करने पर भी रुपया जेब में नहीं आया। तब कम्पार्ट के यात्रियों में आत्मभावना करके उन लोगों से सौ रुपया मांगा, किन्तु किसी ने भी रुपया न दिया। अन्त में निराश होकर सभी ओर से उसकी आस्था जाती रही।

अब उसको यह संशय दृढ़ होने लगा कि ईश्वर नाम का कोई भी तत्त्व नहीं है। यदि ईश्वर होता तो क्या ऐसी तुच्छ साधारण मांगको भी पूरा नहीं कर सकता था अथवा यदि मैं स्वय ही ईश्वर होता तो क्या ऐसी मेरी तुच्छ कामना भी पूरी नहीं हो सकती थी? इससे सर्वथा यह बात सिद्ध हो गई कि न तो ईश्वर ही कोई वस्तु है और न मैं स्वयं ही ब्रह्म हो सकता हूं। मैं अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान, तुच्छ, दीन-हीन जीव हूँ।

उपरोक्त स्वप्नद्रष्टा अपनी संकल्पशक्ति द्वारा पांच हजार

रुपया, ट्रंक, बिस्तरा, नौकर, मेल ट्रेन, लाइन, स्टेशन, फर्स्टक्लास, कम्पार्टमेन्ट, रिज़र्व सीट, कम्पार्टमेन्ट के अन्य यात्री, बैरा, भोजनादि, पचास रुपये का बिल क्षणमात्र में बना लेने में तो समर्थ है; किन्तु उसी समय सौ रुपया बनाने में असमर्थ होने के कारण ही अपने को तुच्छ, दीन-हीन, अभागा जीव मानने लगा। ठीक इसी प्रकार सर्वशक्तिमान ईश्वर ही अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान बना हुआ है।

सभी बुद्धिमान मनुष्यों को जगत एवं आत्मा (स्वप्न-दृश्य, द्रष्टा) की वास्तविकता को समझाने के लिए ही तो नित्यंप्रति स्वप्न का प्राकृतिक अनुभव कराया जा रहा है। तब भी वह यह नहीं समझ पा रहा कि जैसे और सब दृश्य (जगत) मन की रचना है, वैसे ही अल्पज्ञता, अल्पशक्ति आदि प्रतिकूल परिस्थितियां भी तो जगत के ही अन्तर्गत होने से कल्पनामात्र, मन की रचना ही हैं।

आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन शास्त्रोक्त शब्दों को नित्य वाणी द्वारा उच्चारण करता है अथवा जिन ग्रन्थों को मानता है, उन्हीं शब्दों एवं ग्रन्थों के वास्तविक अर्थ, तात्पर्य को वह नहीं समझ पाता। उदाहरणार्थ—जीव, ईश्वर, प्रकृति,—तीनों सत्ताओं को परमार्थतः भिन्न एवं सत्य भी मानता है और साथ ही ईश्वर को विभु (व्यापक) भी मानता है।

भला तीन विभिन्न स्वतंत्र सत्ताओं के सत्य होते हुए ईश्वर व्यापक कैसे हो सकेगा? जितने देश-काल को जीव, प्रकृति ने

-घेरा हुआ है, उतने में ईश्वर हो नहीं सकता और जिस देश-काल में ईश्वर होगा उसमें जीव व प्रकृति नहीं रह सकेंगे,—तभी ईश्वर व्यापक हो सकेगा। व्यापक होने का और कोई प्रकार ही नहीं। इस प्रकार जो ईश्वर को सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित, अद्वितीय, केवल चेतन सत्ता (ईश्वर) को परमार्थतः सत्य मानते हैं, ऐसा मानने एवं जानने वाले परम आस्तिकों को द्वैत-वादी नास्तिक कहते हैं। इन बेचारों को नास्तिक शब्द की परिभाषा एवं स्वरूप का ज्ञान ही नहीं है। ऐसे लोग दया के पात्र हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि जीव का स्वरूप सत्-चित् तो है, किन्तु आनन्द स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो आनन्द की प्राप्ति के लिए इच्छा व साधन करता है। यदि इसी कारण से जीव आनन्द स्वरूप नहीं हो सकता तो फिर चेतन व सत् (ज्ञान व अमृत्व) की प्राप्ति की इच्छा व साधन भी क्यों करता है? यह तो जीव का स्वरूप ही है।

जिस प्रकार सत्-चित् स्वरूप होता हुआ भी अमृत्व व ज्ञान की कामना व साधन करता है, इसी प्रकार जीव आनन्द स्वरूप होता हुआ आनन्द की प्राप्ति का भी साधन कर सकता है। यदि आनंद स्वरूप न होता तो जीवन में अधिकांश आनन्द का अनुभव क्यों करता ?

सारांश यह निकला कि सत्-चित्-आनन्द जिस आत्मा का स्वरूप है, वह न तो इनकी प्राप्ति की कामना ही करता है और

न ही किसी प्रकार का साधन करता है। इच्छा व साधन तो मन-इन्द्रियों के ही द्वारा होते हैं, और वह भी इसलिए कि इनको आत्मा की प्राप्ति का अज्ञान है। साधन से विवेक द्वारा बुद्धि, मन आदि को यह ज्ञान (बोध) हो जाय कि निश्चय ज्ञान, सङ्कल्प, कर्मादि नाना प्रकार की चेष्टाएँ जिस ज्ञान व क्रियाशक्ति के द्वारा सारे सङ्घात में हो रही हैं, वे सारी शक्तियां सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा की ही हैं। यदि आत्मा मन, इन्द्रियों से भिन्न (अप्राप्त) होता तो सशक्त होकर इनके द्वारा विभिन्न प्रकार के ज्ञान व कर्म कैसे हो सकते थे? यह बात तो वैसी ही है कि जैसे चलता हुआ पङ्खा या प्रकाश करता हुआ बल्ब, क्रिया व प्रकाश के मूल कारण विद्युत शक्ति को अपने से भिन्न मानकर उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा व साधन करे।

अब दूसरे प्रकार के ईश्वर का विचार किया जाता है जो कि नाना प्रकार से विभिन्न सम्प्रदायों का अपना-अपना बनाया हुआ है। इन्हीं कल्पित ईश्वरों के कारण नाना प्रकार के मतभेद, लड़ाई, झगड़े, शास्त्रार्थ आदि संघर्ष हुआ करते हैं।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, यहूदी, पारसी, सनातनी, समाजी, आस्तिक, नास्तिक कोई भी क्यों न हो,—इन लोगों का परस्पर जो मतभेद है, वह केवल बनावटी ईश्वरों के विषय में है। सच्चे ईश्वर के विषय में तो किसी का, किसी भी प्रकार से मतभेद हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह सर्व के अनुभव में आने वाला तत्त्व है। केवल विश्वास करने-भर की ही आवश्यकता नहीं है, क्योंकि

जिस वस्तु का अस्तित्व होता है वह अवश्य अनुभव में भी आया करती है। जो वस्तु अनुभव में आती है, उसके ऊपर स्वयं, बिना किसी साधन के ही अपने आप, विश्वास हो ही जाया करता है। बहुत-से ईश्वरवादी लोग कह दिया करते हैं कि ईश्वर अनुभव व मन का विषय ही नहीं है। कितनी अनर्गल बात है कि जो तत्त्व देश, काल, वस्तु की परिच्छिन्नता से रहित, मन-इन्द्रियादि का अन्तरात्मा, मन के द्वारा सङ्कल्प-विकल्प, बुद्धि के द्वारा निश्चय कर और आँखों के द्वारा देख रहा है, कानों के द्वारा सुन रहा है,—उसी को अनुभव और मन का अविषय बताया जाता है।

प्रत्येक इन्द्रिय को उस-उस स्वभाव व गुण-कर्म के अनुसार ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति के द्वारा शक्तिशाली और गतिशील बना रहा है, फिर भी उसे कहना कि अनुभव का विषय नहीं! तो फिर इस बात का ज्ञान कैसे हुआ कि—"वह सबसे परे है?" क्या बिना मन-बुद्धि के यह बात जानी गई कि वह सबसे परे है?

यदि उपरोक्त ईश्वरवादियों से प्रश्न किया जाय कि आपका ईश्वर कहाँ रहता है और जगत् के साथ उसका क्या सम्बन्ध है?—तो सारे-के-सारे बोल पड़ेंगे कि वह तो सारे जगत् का निर्माता, धारण-पोषण करने वाला, सब पर शासन करने वाला और सर्वशक्तिमान परमात्मा, गॉड, खुदा नामक है। अधिकतर वैकुण्ठ या क्षीर-सागर या सातवें आसमान या

बादलों में रहता है और यदि अधिक छलांग लगाई तो कहेंगे कि वह निराकार, व्यापक है।

अब यहाँ पर नास्तिक महोदय आए और कहने लगे कि वह जो कुछ भी हो, इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं। हम तो उसे देखना चाहते हैं। तब तो सारे कहने लगे कि वाह! वह तो मन-बुद्धि से सवथा अतीत है। किसी भी साधन का विषय ही नहीं है। वह कहीं देखने की वस्तु है? यदि देखना चाहते हो तो इतना-इतना जप-तप, भक्ति-योग आदि नाना प्रकार के साधन करो। तब उसे देखने के योग्य हो सकते हो!

यदि कोई हठ ही कर बैठे कि मैं तो उसे केवल देखना ही चाहता हूँ और सब बातें आप लोग स्वयं कर लेना। फिर तो श्रीमान् जी कहने लग जायेंगे कि यदि जगत्पिता को जानना चाहते हो तो श्रुतिमाता पर ही विश्वास करना होगा, क्योंकि पिता को जानने के लिए माता जिसको अँगुली उठाकर कह दे, उसी को अपना पिता स्वीकार करना होता है। उसके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि गर्भाधान के समय कोई बालक अपने पिता को प्रत्यक्ष देख नहीं सकता। परन्तु यह सारी युक्तियां तभी तक काम करती थीं, जब तक कि संसार में विज्ञान का चमत्कार नहीं था।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि माता ने अपने विवाहित पति से चोरी से, किसी अन्य महानुभाव से गर्भाधान करवा लिया हो और लोक-लज्जा के भय से अपने विवाहिता पति को ही

लड़के का पिता कह रही हो,—तो क्या वास्तव में वह उस लड़के का पिता हो सकता है ?—कदापि नहीं। तब केवल माता की बात पर ही क्यों विश्वास किया जाए ? क्या इस बात के लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं रहा ? विज्ञान नें तो इसका सर्वथा भंडा-फोड़ यानी पर्दाफाश ही कर डाला है। मुझे एक प्रत्यक्ष घटना का ठीक-ठीक पता है।

एक सेठ जी (जिनका नाम व पता लिखना उचित न होगा) की दो स्त्रियां थीं। बड़ी स्त्री को जब एक मास का गर्भ हुआ तो उसे सेठ जी ने त्याग दिया। वह बेचारी अपने पिता के घर चली गई। वहाँ उचित समय पर उसके एक पुत्र हुआ। उसके पिता तथा अन्य सम्बन्धी मिलकर जिलाधीश के पास प्रार्थन-पत्र व डेपुटेशन लेकर पहुँचे और उस लड़के तथा उसकी माता के लिए खर्चा व हिस्सा दिलाने के लिए प्रार्थना की।

कलैक्टर साहब ने टेलीफोन से सेठ जी को बुलाया और कहा कि अपनी पत्नी तथा लड़के के लिए खर्चा बाँधो या कुछ हिस्सा दो।

सेठ जी ने साफ़ इनकार कर दिया कि यह हमारा लड़का ही नहीं है। अब क्या किया जाए ? यह तो सारा गुड़ गोबर हो गया। परन्तु वाह रे विज्ञान ! साहब ने आज्ञा दे दी कि लड़के व सेठ जी का डॉक्टरी परीक्षण होगा। निश्चित् समय पर वह लड़का, उसकी माता व सेठ जी उपस्थित हुए।

उसी समय वहाँ कई यूरोपीय व भारतीय सिविल सर्जनों का

कमीशन आया हुआ था। उन्होंने सेठ जी व उस लड़के का रक्त निकाल कर प्रथम अलग-अलग किसी यन्त्र के द्वारा परीक्षा की, फिर मिलाकर और अन्त में अग्नि में भी गरम करके परीक्षा की। तीनों परीक्षाओं में दोनों के जीवाणु परस्पर एक रूप मिले। वह सेठ जी का ही पुत्र सिद्ध हुआ। डॉक्टरों ने प्रमाण-पत्र लिख कर दे दिया कि यह लड़का सोलहो आने चौंसठ पैसे सेठ जी का ही है। विवश होकर सेठ जी को हिस्सा देना ही पड़ा।

इतना होने पर भी यह कहना कि 'केवल माता की बातों पर ही विश्वास करो' कोई महत्त्व नहीं रखता। आप लोग सोचिये कि भला, जिस वस्तु का अस्तित्व होगा, उसका प्रत्यक्ष न होगा? केवल शब्द-प्रमाण को ही क्यों प्रधानता दी जाय, जब कि अनुभव की कसौटी विद्यमान है?

यहाँ एक और छोटा-सा दृष्टान्त देना उचित होगा। किसी व्यक्ति ने अपनी स्त्री को किसी दूसरे पुरुष के साथ व्यभिचार करते हुए देखा तो कहने लगा कि तुमने ऐसा अनुचित कर्म क्यों किया? स्त्री ने साफ इनकार कर दिया कि मैंने कुछ भी नहीं किया। पति ने कहा कि मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा है। स्त्री ने उत्तर दिया कि वाह! आप अपनी छोटी-छोटी दो आंखों पर तो इतना विश्वास करते हैं, परन्तु मेरे इतने बड़े शरीर पर कोई विश्वास ही नहीं?

यही दशा है केवल शब्द-प्रमाणवादी भगवद्भक्तों की! वे कहते हैं कि ईश्वर को देखने व अनुभव करने की बात ही क्यों

करते हो? केवल शब्द-प्रमाण पर ही सन्तोष क्यों नहीं कर लेते?

यह भी एक अटल नियम है कि कोई भी क्रियावान् या रूपवान् शरीरधारी ही कर्ता हो सकता है,—निराकार नहीं हो सकता। अच्छा, जिस समय जगत के निर्माता निराकार ईश्वर ने जगत की रचना प्रारंभ की, उस समय वह कहाँ खड़ा या बैठा हुआ था अर्थात् जगत के उत्पन्न होने से पूर्व देश-काल था या नहीं? यदि था, तब तो वह भी जगत के अन्तर्गत ही है,—फिर बनाया क्या? यदि यह कहो कि देश-काल इत्यादि कोई भी तत्त्व नहीं था,—तब जगत के निर्माता ईश्वर ने कहाँ और किस समय जगत को बनाया?

यदि कोई यह कहे कि देश-काल सहित सारे जगत को ईश्वर ने स्वप्नवत् अपने संकल्प से एक ही काल में बना डाला। जो मनुष्य थोड़ी-सी भी बुद्धि रखता होगा, वह भी अवश्य इस बात को सोचेगा कि संकल्प बिना मन के हो नहीं सकता और मन भी बिना शरीर के सम्बन्ध के संकल्प-विकल्प कर नहीं सकता। तो फिर निराकार ईश्वर ने बिना स्थूल शरीर के सम्बन्ध के संकल्प कैसे किया?

इस बात का ज्ञान ही कैसे हुआ कि ईश्वर ने ही जगत का निर्माण किया है? क्या जगत को बनाते समय ईश्वर महोदय ने अपने अनुयायियों को परामर्श करने के लिये बुलाया था? यदि यही नियम सर्वथा अनिवार्य है कि बिना बनाये तो कोई वस्तु

बनती ही नहीं, तब फिर प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर को किसने बनाया ? यदि कहो कि वह तो स्वयंभू है, तो फिर जिस प्रकार से ईश्वर स्वयंभू हो सकता है, उसी नियम के अनुसार जगत भी स्वयंभू हो सकता है।

इतने से ही आप लोग समझ गये होंगे कि निराकार ईश्वर ने जगत को कैसे बनाया ?

यहां एक घटना का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। विभाजन से प्रथम एक बार लाहौर में ईसाइयों का सम्मेलन हो रहा था। मैं भी दो-चार सज्जनों के साथ वहां गया, तो उस समय एक पादरी साहब का व्याख्यान हो रहा था और वह बोल रहे थे कि ईश्वर ने सारे जगत् को छः दिन में बना कर कम्पलीट कर दिया। अन्त में सातवें दिन सूर्य को बनाया, इसीलिये इस दिन का नाम सण्डे (रविवार) पड़ा। ईश्वर बराबर सात दिन से परिश्रम करते हुए थक गया था, इसलिये इस दिन उसने विश्राम किया था। तभी से हमारे यहां रविवार को छुट्टी मनाई जाती है। देखिये, हमारा मज़हब कैसा युक्तियुक्त और दार्शनिक है !

यह बात सुनकर मैंने अपने साथियों द्वारा ५ मिनट का समय लिया और वक्ता महोदय से प्रश्न किया कि ईश्वर ने छः दिन में जगत बनाने के पश्चात् ही सातवें दिन सूर्य को बनाया, तो फिर इस बात का पता कैसे चला कि छः दिन में जगत् बना, जब कि सूर्य बना ही नहीं था ? क्योंकि रात्रि-दिन तो बिना सूर्य के हो नहीं सकते।

उपरोक्त बातों से ज्ञात होता है कि साम्प्रदायिक लोग ईश्वर के विषय में बालकों की भाँति कैसी अनर्गल कल्पनायें करते रहते हैं।

अब रही बात जगत के धारण, पोषण तथा शासन करने की! प्रश्न यह है कि क्या कोई भी निराकार तत्त्व, किसी रूपवान्, साकार एवं स्थूल-पदार्थ को कभी भी, किसी भी प्रकार से धारण कर सकता है? यदि नहीं, तो निराकार ईश्वर ने स्थूल जगत को कैसे धारण कर रखा है?

निराकारवादी फौरन ही बोल पड़ेंगे कि 'हाँ, जिस प्रकार निराकार आकाश ने चारों भूतों सहित सारे जगत को धारण किया हुआ है!' फिर तो ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि इस काम को तो आकाश महोदय ने ही सम्हाल लिया है।

आकाश किसी भी वस्तु को धारण नहीं करता वरन् रहने या ठहरने के लिये अवकाश देता है। उपादान कारण (अधिष्ठान) ही कार्य को धारण कर सकता है, अन्य कोई भी नहीं,—जैसे भूषणों को स्वर्ण ही धारण कर सकता है, दूसरा कोई नहीं। इसलिये प्रकृति ने ही जगत को धारण कर रखा है।

यदि कहो कि प्रकृति को किसने धारण किया है? तो फिर साथ ही यह भी प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर को किसने धारण किया है? आप कहें कि अजी, वह तो निराधार है! तब क्या प्रकृति निराधार नहीं हो सकती? यदि कहो कि नहीं,—वह तो जड़ है! तो फिर चेतन कहाँ रहता है?

यहाँ इस चेतन (वास्तविक ईश्वर) का निषेध नहीं किया जा रहा, केवल कपोल-कल्पित ईश्वर का विवेचन किया जा रहा है।

अब ज़रा पालन-पोषण करने वाले जगत पिता को भी देखिये कि किस प्रकार से कसाइयों से निर्दोष भेड़ों, बकरियों, गौत्रों, भैंसों, मछलियों, मुर्गियों इत्यादि की कैसी उत्तम रीति से रक्षा करा रहा है! इसी प्रकार से सिंह इत्यादि हिंसक पशुओं के से अन्य निर्दोष पशुओं की और बाज इत्यादि पक्षियों से अन्य निर्दोष पक्षियों की कैसी दयालुता से रक्षा करवाता है। इसी प्रकार से भूख, बेकारी, दुर्भिक्ष, महामारी या नाना प्रकार के रोगों से निर्धन, दीन, हीन, असहाय तथा गरीब आदि अपने परमप्रिय भक्तों की कैसी सुन्दर रक्षा करता है !

अब अन्त में उस न्यायकारी ईश्वर का 'शासन विधान' भी देख लें कि वह किस पद्धति से सारे जगत का शासन करता है। किसी देश का, कोई भी शासन-कर्ता राजा, बादशाह या और किसी प्रकार की 'सरकार' होती है, तो वहाँ अनुशासन (डिस्सी-प्लिन) अवश्य होता है। किन्तु इस जगत में तो अनुशासन के विरुद्ध ही सब कुछ दिखाई पड़ता है,--जैसे, कहीं भूकम्प आता है तो नगर के नगर नष्ट-भ्रष्ट कर जाता है। खेती पकी खड़ी है,-कटने वाली है,—ओले बरसे और सब का सब साफ़ कर गये। किसान बेचारे रोते-चिल्लाते और हाथ मलते ही रह गये।

कहीं वायु का तूफान सारे इलाके के मनुष्य, पशु, पक्षी तथा

वृक्षों इत्यादि के ऊपर झाड़ू फेर जाता है। कहीं वर्षा इतने जोर से आई कि गांव का गांव बहा ले गई, तो कहीं चार-चार वर्ष तक पानी की बूंद भी नहीं पड़ती। क्या उपरोक्त देशों तथा अरब की मरुभूमि आदि में पानी छिड़कने के लिये खुदावन्द ताला की म्युनिसिपैलिटी में पानी ही समाप्त हो जाया करता है? अभी-अभी भारत के विभाजन में दोनों ओर के लाखों निर्दोष मनुष्य मारे गये तथा गुण्डों का बाल भी बाँका न हुआ।

अब आप लोग उस योग्य स्वामी की शासन-पद्धति को भी समझ गये होंगे। यदि कोई कहे कि रात्रि-दिन, सर्दी-गर्मी, बसन्त-वर्षा, जन्म-मृत्यु आदि तथा चन्द्र, बुध, मंगल इत्यादि ग्रहों का परस्पर में नियमबद्ध होकर सूर्य के चारों ओर चक्कर काटना इत्यादि क्या ईश्वरीय अनुशासन नहीं हैं? तो इसका उत्तर यह है कि ये सब तो प्राकृतिक अनादि, अटल व स्वाभाविक नियम हैं। इसे आप ईश्वरीय विधान भी कह सकते हैं, किन्तु ईश्वर शक्ति-विशेष है, व्यक्ति विशेष नहीं कि जो किसी राजा या बादशाह की भांति किसी देश विशेष में बैठकर शासन कर रहा हो।

उपरोक्त सभी विचारों का तात्पर्य यही है कि सत्-चित्-आनन्द स्वरूप सर्वशक्तिमान ईश्वर को प्रकृति, जगत व जीव से भिन्न न मानकर, इनसे अभिन्न, सभी में पूर्ण, सर्व की सत्ता या सर्व रूप समझें। तभी सर्वशक्तिमान मनुष्यों (ईश्वर) द्वारा व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं सारे विश्व की उन्नति, प्रगति, विकास तथा अभ्युदय बन सकता है।

प्राकृतिक एकता के बाधक

जगत् में जितने भी प्रकार के रोग हैं, यदि उनकी चिकित्सा करनी हो तो औषधि के प्रयोग करने से प्रथम ही रोग के कारण का निदान कर लेना अत्यावश्यक है। बिना कारण की चिकित्सा किए रोग कभी निवृत्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब कि एकता प्राकृतिक ही है तो फिर उसका पालन क्यों नहीं होता ?—इस महान रोग के जितने भी कारण हैं, उनमें प्रधान दो हैं,—प्रथम नाना प्रकार के काल्पनिक पक्षपात दूसरा व्यक्तिगत स्वार्थ, और इन दोनों कारणों का भी मूल कारण अपने वास्तविक आत्मा का अज्ञान है। इनका विचार इस प्रकार से है—

वर्ण, आश्रम, जाति, मजहब, देश, धन, पुत्र, स्त्री, घर, मान, प्रतिष्ठा आदि का सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ है। इन्हीं संबंधों को स्थूल वासना भी कहते हैं। सूक्ष्म व कारण वासना का विचार आगे किया जाएगा, जो स्थूल वासना से भी प्रबल मानी गई हैं। प्रथम स्थूल का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

भारत में प्रायः विषमता का महान् कारण जाति-भेद है। प्रायः हिन्दुओं का तो यहाँ तक कहना है कि यह जाति-भेद स्वाभाविक यानी ईश्वरकृत है,—मनुष्यकृत नहीं। जन्म से ही जाति की उत्पत्ति होती है। इसकी पुष्टि में वेद और अन्य शास्त्रों

का प्रमाण भी उपस्थित किया जाता है। इसकी पुष्टि में प्रायः दो प्रमाण दिए जाते हैं। प्रथम वेद का और दूसरा गीता का—

ब्राह्मणोऽस्य मुखं मासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ वेद

गीता में भी आया है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्य यम् ॥

गीता, अ० ४-१३

अब आइये, जरा देखें कि यह जाति-प्रथा मनुष्यकृत है या ईश्वरकृत यानी स्वाभाविक है!

प्रथम वेद मन्त्र के अनुसार नाना प्रकार के ऊँच-नीच वर्णों का विचार किया जाता है।

वर्ण

वर्ण की पुष्टि में जो ऊपर वेद का प्रमाण दिया गया है, प्रथम तो यह प्रमाण ही अधूरा है, क्योंकि २० करोड़ हिन्दुओं को छोड़कर शेष जो सारे संसार के अन्य मतावलम्बी हैं, वे इस वेद को प्रमाण रूप से मानते ही नहीं; फिर ईश्वरकृत वेद स्वतः प्रमाण कैसे हो सकता है? थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय तो साथ ही यह प्रश्न होगा कि ईश्वर ने सारे जगत की सृष्टि की या चार वर्णयुक्त केवल हिन्दुओं की ही सृष्टि की?

यदि यह कहो कि ईश्वर ने ही सारे जगत् की रचना की है,

तो फिर प्रश्न होगा कि सारे ब्राह्मण तो ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजा से हुए, वैश्य जङ्घा से हुए, सारे शूद्र पैर से हुए,—इनके अतिरिक्त शेष सत्तर करोड़ बौद्ध, ४५ करोड़ ईसाई, ३० करोड़ मुसलमान,—ये सारे ईश्वर के किस अङ्ग से हुए ? ये लोग क्या ईश्वर की पूँछ से हुए हैं ?

यहाँ पर बहुत-से सज्जन कहने लग जायेंगे कि ये सभी लोग तो अभी लगभग दो हज़ार वर्ष से ही हुए हैं। यानी सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने इन्हीं चारों वर्णों सहित मनुष्यों की रचना की। पश्चात् इन्ही चार वर्णों में से निकल-निकल कर पृथक-पृथक् अन्य जातियां भी बन गई। ऐसा स्वीकार करने से ईश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति ही नहीं बन सकती, क्योंकि अनादि शब्द का अर्थ तो यही हो सकता है कि जिसका आदि अर्थात् प्रारम्भ या उत्पत्ति न हो। फिर इन दोनों,—आदि और अनादि, शब्दों का मेल ही कैसे हो सकता है ?

इस विषय में इसी पुस्तक के 'जगत् क्या है ?' शीर्षक लेख में विस्तार से विचार किया है। यहाँ पर केवल इतना ही विचार प्रस्तुत किया जायगा कि यह चराचर जगत् धारा-प्रवाह रूप से अनादि चला आ रहा है। यहाँ उत्पत्ति-प्रलय का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसको ब्रह्मा, ईश्वर, गॉड, खुदा ने नहीं बनाया, किन्तु स्वयं मनुष्यों ने ही अनुमान के द्वारा सृष्टिकर्त्ता की कल्पना कर ली है। ईश्वर ने स्वयं मनुष्यों के पास यह सूचना कभी नहीं

भेजी कि हे मनुष्यो ! चारों वर्णों में विभक्त करके तुम्हारी उत्पत्ति मैंने की है।

यदि उपरोक्त मन्त्र के अर्थ की कल्पना करने वाले कोई महानुभाव यह कहने लग जायँ कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न नहीं हुए, किन्तु ब्रह्मा के मुख हैं। क्षत्रिय ब्रह्मा की भुजा, वैश्य जङ्घा और शूद्र पैर हैं। तब यहाँ भी वही प्रश्न उपस्थित हो जाएगा कि और लोग क्या ब्रह्मा की 'नाक' हैं ? अतः इस मन्त्र का यह अर्थ न करके आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करना ही समुचित होगा।

चतुर्मुखी ब्रह्मा, जिसके द्वारा चार वर्ण सहित सारी सृष्टि की उत्पत्ति होती है,वह कहीं दूर नहीं है। हमारे अन्दर ही मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार,—अन्तःकरण चतुष्टय ही ब्रह्मा के अङ्ग हैं। बुद्धि ब्राह्मण है, मन क्षत्रिय, चित्त वैश्य और अहङ्कार शूद्र है। इन्हीं को चार वर्ण का रूपक दिया गया है। यही चार वर्ण शरीर में भी घटते हैं।

'ब्रह्म' शब्द बृहद् धातु से बनता है, जिसका अर्थ सबसे बड़ा होता है अर्थात् मुख को ब्राह्मण इसलिए कहते हैं कि मुख सब इन्द्रियों से श्रेष्ठ है। संसार में जितना भी कार्य हो रहा है, उसमें प्रधानता मुख की है। जितना भी खाद्य पदार्थ है, वह मुख से ही खाया जाता है कि जिससे बुद्धि से लेकर सारे शरीर का पालन-पोषण होता है। शब्द के द्वारा ही संसार का व्यवहार चलता है। शब्द ही सारे प्रमाणों में प्रधान है। वह शब्द भी मुख के ही

द्वारा उच्चारण होता है। दूसरी बात यह भी है कि जितनी भी ज्ञानेन्द्रियां हैं जिनसे कि सारे जगत् का हर प्रकार का ज्ञान होता है, वे ऊपर (शीर्ष-भाग) में ही हैं। इसलिए भी सिर की सारी इन्द्रियों को 'ब्राह्मण' कहा गया है।

राजा का काम प्रजा का पालन-पोषण, रक्षा करना आदि,—ये सारे लक्षण 'भुजा' में घटते हैं। इसलिए 'बाहु' को क्षत्रिय यानी राजा की उपाधि दी गई है।

खेती, व्यापार, गो-रक्षा,—ये तीनों लक्षण 'पेट' में घटते हैं। रक्त, मांस, मज्जा आदि सब धातु पेट से ही खेती से अन्नवत् उत्पन्न होते हैं और इनको सारे शरीर में विभक्त करना ही व्यापार है। 'गो' नाम इन्द्रियों का है अर्थात् इन्द्रियों का पालन-पोषण यानी 'गो-रक्षा' भी पेट से ही होती है।

सिर, हाथ, पेट का जो सेवक हो उसे 'शूद्र' कहा गया है। ये सारे लक्षण पाद, उपस्थ, गुदा आदि में घटते हैं। अतः शरीर के इन अङ्गों को सब का सेवक यानी शूद्र की उपाधि दी गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि सारी सृष्टि ही ब्रह्मा के मुख से निकली है, केवल ब्राह्मण ही नहीं। सृष्टि के आदिकाल में ब्रह्म ने उच्चारण किया—'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय'। यह वेद का वाक्य है। अर्थात् 'मैं एक से बहुत हो जाऊँ'—ऐसा कहते ही सारे जगत् का प्रादुर्भाव हो गया।

शब्द का उच्चारण नित्य मुख से ही हुआ करता है, अतएव सारा जगत् ब्रह्मा का मुख है जिसके अन्तर्गत शूद्र भी हैं। अब

यहाँ पर विचारशील व्यक्तियों के समझने के लिए एक दृष्टांत दिया जाता है।

जो आचार्य सृष्टि की उत्पत्ति इस प्रकार से मानते हैं, उनके लिए ऐसा विचार किया है, यह मेरा सिद्धांत नहीं है। सृष्टि को अनादि मानने से उत्पत्ति का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। उपरोक्त दृष्टांत इस प्रकार है—

एक समय वृन्दावन में एक बहुत बड़े वैष्णवाचार्य सुखपाल (पालकी) पर बैठे हुए कहीं जा रहे थे। पालकी को आठ मनुष्यों ने उठा रखा था और दोनों बगल में दो व्यक्ति छत्र, चँवर डुलाते हुए जा रहे थे। सबसे आगे-आगे दो व्यक्ति पानी छिड़कते हुए चल रहे थे कि कहीं पृथिवी अशुद्ध न रह जाए।

कुछ दूर जाने के पश्चात् जिस सड़क से जा रहे थे, उसी सड़क पर एक भङ्गी झाड़ू लगा रहा था। दूर से उससे चिल्लाकर कहा कि सड़क छोड़कर एक ओर हो जाओ। शीघ्र ही हटो! हटो! वह बेचारा उस समय तो एक ओर हटकर खड़ा हो गया, किन्तु जैसे ही आचार्य जी की सवारी वहाँ पहुंची, ठीक उसी समय वह भङ्गी फिर सड़क पर आकर खड़ा हो गया और कहने लगा कि आप चाहे मुझे मरवा डालें, परन्तु मैं तब तक मार्ग नहीं छोडूंगा जब तक कि आप मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दे देंगे।

आचार्य जी ने कहा—अच्छा पूछ, क्या पूछता है?

भङ्गी ने कहा कि महाराज! भगवान् कृष्णचन्द्र जी ने माता

यशोदा को जब अपना मुँह फाड़कर दिखलाया था, तो क्या दिखलाई पड़ा था ?

आचार्य जी ने उत्तर दिया कि सारा ब्रह्मांड यानी सारा जगत् दिखलाई पड़ा था।

भङ्गी ने पूछा कि क्या उस ब्रह्मांड में यह बृन्दावन भी था ? आचार्य जी ने कहा कि हाँ, यह भी था।

उसने फिर पूछा कि क्या उस मुख के बृन्दावन में ये सड़कें भी थीं कि जिस पर आप जल छिड़कवाते हुए जा रहे हैं ? उन्होंने उत्तर दिया कि हाँ, ये सड़कें भी थीं।

भङ्गी ने पूछा कि क्या उन सड़कों को साफ़ करने वाला भङ्गी यानी मैं भी था ?

अब तो वैष्णवाचार्य जी सटपटाए और पालकी उठाने वाले मनुष्यों से कहा कि चलो ! चलो ! इस पर भङ्गी गरम हुआ और कहने लगा कि मैं प्रथम ही कह चुका हूं कि जब तक मेरे प्रश्न का उत्तर न दे देंगे, तब तक मैं मार्ग नहीं छोड़ूंगा, चाहे मार डालो।

आचार्य जी को बाध्य होकर कहना पड़ा कि हाँ, तू भी था। तब भङ्गी कहने लगा कि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' का क्या अर्थ हुआ ?

सारे-के-सारे वैष्णव व्याकुल होकर कहने लगे कि अरे ! तू शूद्र होकर वेदमन्त्र बोल रहा है ? भङ्गी ने उत्तर दिया कि भगवान् के मुखारविन्द में वेदमन्त्र का बोलना क्या पाप है ?

आप लोग इस दृष्टांत से समझ गए होंगे कि एक ओर तो यही लोग सबको उपदेश देते हैं कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—सब भगवद्रूप ही है और दूसरी ओर कितना पक्षपात एवं राग-द्वेष करते हैं। इसी को कहते हैं आंख में धूल झोंकना !

अच्छा,—अब गीता के प्रमाण पर विचार कीजिये। भगवान् कहते हैं,—चार प्रकार की सृष्टि मैंने गुण और कर्म के विभाग से रची है, परन्तु 'अहंता', 'ममता', 'वासना' से रहित और असग होने से मैं किसी प्रकार के कर्म से लिपायमान नहीं होता। इसी प्रकार मुझे अर्थात् अपने आत्मा को जो अकर्ता, अभोक्ता, नित्य-मुक्त जानता है, वह भी कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

विचार इस बात का करना है कि भगवान् ने जो चार वर्ण कहे हैं, उनका तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दुओं की चार प्रकार की जाति हैं। इसीलिए तो यहाँ सृष्टि शब्द दिया है अर्थात् जेरज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज,—इन चार प्रकार की सृष्टियों के द्वारा सारे जगत् का विभाग ईश्वर अर्थात् समष्टि मन को ही माया विशिष्ट ईश्वर की उपमा दी गई है।

यदि श्रीकृष्ण जी को चार वर्णों का विभागकर्ता अथवा जगत् का सृष्टिकर्ता मान लिया जाए तो प्रश्न यह होगा कि क्या कृष्ण के प्रादुर्भाव से पहिले वर्ण या जगत् नहीं थे ? इसलिए यहाँ जगत् की रचना से तात्पर्य नहीं है, वरन् सारे नाम-रूपात्मक जगत् के गुण और कर्म के अनुसार चार प्रकार के विभाग से तात्पर्य है।

जेरज से तात्पर्य है जिसकी उत्पत्ति जेर से हो,—जैसे मनुष्य, पशु आदि। अण्डज—जिसकी उत्पत्ति अण्डे से हो,—जैसे नाना प्रकार के पक्षी, मछली, सर्प, बिच्छू तथा और भी सारा कीटाणुवर्ग ले लेना चाहिए। इसी प्रकार से उद्भिज्ज अर्थात् जिसकी उत्पत्ति पृथ्वी से हो, जैसे अन्न, फल, फूल, वृक्ष, वनस्पति आदि। स्वेदज से—जुँआ, खटमल आदि न लिया जायगा क्योंकि प्रत्यक्ष देखा गया है कि ये सब अण्डे से उत्पन्न होते हैं। अतः इनको छोड़कर सोना, चांदी, पारा, तांबा, तेल, कोयला, हीरा, नमक, इत्यादि खनिज लेना अत्युत्तम होगा, क्योंकि संसार के अन्तर्गत जितनी भी सृष्टियां हैं, उनमें यह खनिजवर्ग भी एक विशेष सृष्टि है जो इन चार प्रकार की सृष्टि से पृथक् है। अतः इनको पांचवें प्रकार में गिनेंगे।

इस प्रकार इस श्लोक का तात्पर्य मनुष्य के चार वर्णों से नहीं है। मनुष्यों के स्वाभाविक गुण व कर्म के अनुसार इन को चार प्रकार की श्रेणियों में विभक्त करके अठारहवें अध्याय में इसको स्पष्ट ही कर दिया है। इसलिए वर्ण का तात्पर्य जाति से नहीं, किन्तु प्रकार से है। जाति से तो सारे मनुष्य हैं, परन्तु वास्तविक दृष्टिकोण से सारे मनुष्यों की जाति चेतन है।

विचारशील व्यक्तियों ने व्यवहार चलाने के लिये समय के अनुरूप, गुण-कर्म के अनुसार, चार प्रकार की श्रेणियां बना ली हैं। यह स्वाभाविक नियम नहीं है। प्राकृतिक ईश्वरीय वस्तु स्वाभाविक होती है। वह कर्मजन्य एवं साधन-साध्य नहीं होती,—

जैसे नेत्र, नासिका, हाथ, पैर, लोम (बाल) आदि जन्म से ही शरीर के साथ रहते हैं, जन्म लेने के पश्चात् वस्त्रादिकों की भांति बनाकर धारण नहीं किये जाते। यदि जाति जन्म से मानी जाए तो फिर एक डाक्टर के पुत्र को भी डाक्टर होना चाहिए, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता।

मनुष्यों की इन चार प्रकार की श्रेणियों का परिवर्तन भी होता रहता है,—जैसे एक शूद्र अपनी योग्यता, गुण या कर्म के अनुसार ब्राह्मण भी बन सकता है। ब्राह्मण धर्म-कर्महीन या चरित्र-भ्रष्ट होने से शूद्र भी बन सकता है,—जैसे रावण। इसी प्रकार एक छोटा-सा ऑफिसर अपनी योग्यता के अनुसार उन्नति करता हुआ एक बड़ा ऑफिसर बन जाता है और एक बड़ा ऑफिसर अपनी अयोग्यता से गिरकर निचली श्रेणी में चला जाता है।

इसके अतिरिक्त दूसरी विशेष बात यह है कि यदि वर्ण-व्यवस्था प्राकृतिक (ईश्वरीय) होती तो जिस प्रकार से पशु या पक्षी जाति से तो एक अवश्य हैं, परन्तु उनकी आकृति, स्वरूप या गुण-कर्म में विशेष अन्तर है,—जैसे पशुओं में हाथी, गाय, बकरी, ऊँट, गदहा, सूअर और पक्षियों में उल्लू, चमगीदड़, कौआ, कबूतर, तोता, चील, गिद्ध। इसी प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि में भी इनके स्वरूप व आकृति में कोई विशेष अन्तर या परिवर्तन होना चाहिए था। भोजन, बोली या रहन-सहन इत्यादि में भी कोई भेद या विशेषता होनी चाहिए थी, किन्तु यह सब नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ये सब भेद मनुष्यों के बनाए हुए हैं, जिनका परिणाम केवल नाना प्रकार के पक्षपात, राग-द्वेष, लड़ाई, झगड़ा, फूट, दुःख या अशांति के सिवाय और किसी प्रकार का लाभ नहीं है । इसलिए मनुष्य को चाहिये कि इन व्यर्थ और बनावटी बातों में न पड़कर, जितना भी हो सके, अपने मनुष्यत्व का विकास एवं प्रकाश करे जिससे कि अपना और सारे विश्व का जीवन सुखी तथा शान्त हो और विश्वप्रेम की वृद्धि हो। जिस प्रकार से एक महात्मा निष्पक्ष भाव से रहते और यही शिक्षा भी सब को देते थे । इस विषय में एक दृष्टान्त है:—

एक तत्त्ववेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ महात्मा एक आश्रम बनाकर रहते थे। जो कोई महात्मा या गृहस्थी उनके आश्रम में जाता था, उसे वे बड़े प्रेम से ठहराते थे । बड़े सत्कार पूर्वक भोजन कराकर रात्रि को अपने कमरे के साथ जो लगा हुआ कमरा था, उसमें ठहराते थे । दोनों कमरों की खिड़की एक थी । जब रात्रि को सोने लगते तो हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध इत्यादि मज़हबों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, इत्यादि सारे वर्णों, गृहस्थी, संन्यासी इत्यादि सारे आश्रमों, उदासी, संन्यासी, नाथ, वैरागी इत्यादि नाना प्रकार के सम्प्रदायों और भारत, अमेरिका, इंग्लैण्ड, रूस आदि समस्त राष्ट्रों,—तात्पर्य यह कि शारीरिक व मानसिक अनात्माभिमान के कारण जितनी भी उपाधियाँ होती हैं, कि जिनके ऊपर आक्षेप या जिनकी निंदा करने से इस मनुष्य को विक्षेप और कष्ट होता है,—उन सभी को एक-एक करके बड़ी घृणित गालियाँ देते थे ।

इन गालियों को सुनते-सुनते जिस उपाधि में जिस का पक्ष-पात या अभिमान होता था, उसी की निन्दा सुनते ही वह आगन्तुक क्रोध करके लड़ पड़ता था। महात्मा उससे क्षमा मांग लेते और कहने लगते कि क्या करूँ महाराज! मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।

इसी प्रकार से होते-होते पचास वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु कोई भी साधु या गृहस्थी उनके आश्रम पर ऐसा न पहुँचा जो सर्वथा निरभिमान या पक्षपात रहित केवल शुद्ध मनुष्य हो। अन्त में एक महात्मा एक दिन पहुँचे। उनके साथ भी यही नित्य-नियम प्रारम्भ हुआ। हर प्रकार की गाली दे चुके और फिर भी वे महात्मा चुप ही रहे, तो उन्हें विक्षिप्त करने के लिए उन्होंने अंतिम एटम बम्ब फेंका और कहने लगे कि कुछ .इस संसार में ऐसे भी विटल पन्थी (निराभिमान) दुष्ट, नीच घूम रहे हैं कि जिनका न कोई वर्ण है, न आश्रम है, न कोई जाति है, न कोई सम्प्रदाय है, न कोई देश है और न धर्म-कर्म ही है,—जैसे वह मनुष्य ही नहीं हैं। बड़े निरभिमान, निष्पक्ष, ब्रह्मनिष्ठ बने हुए पशुओं की भांति घूम रहे हैं, मानो इनकी दृष्टि में संसार है ही नहीं! ऐसे ही पागलों ने तो संसार को भ्रष्ट किया है।

इतना सुनते ही वह आगन्तुक महात्मा खिल-खिलाकर हंस पड़े। फिर तो क्या ही कहना था! आश्रम वाले महात्मा उनके चरणों में जाकर लोट-पोट हो गये और बोले—'धन्य हो महाराज! आज पचास साल के पश्चात् सच्चे, शुद्ध, पवित्र

मनुष्य के दर्शन हुए हैं। यहाँ तो प्रथम हज़ारों ही साधु तथा गृहस्थी आये होंगे। जिसको भी देखा, अज्ञान एवं मन की कठपुतली ही देखा।

अतः सारी कल्पित उपाधियों को छोड़कर प्राकृतिक मानवता का पालन अवश्य करना चाहिये। अब आगे आश्रम का विचार करेंगे।

आश्रम

आश्रम शब्द का अर्थ होता है रहने का स्थान। किसी गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए ये चार पड़ाव हैं। शास्त्रों में चार प्रकार का आश्रम माना गया है। उसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास,—ये चार विश्राम-स्थल हैं अर्थात् मोक्ष या अपने स्वरूपभूत ब्रह्मपद में स्थित होने के लिए क्रमशः चार पड़ाव हैं। अब इनमें से प्रत्येक के स्वरूप का निरूपण किया जाता है।

ब्रह्मचर्य—इसका शब्दार्थ है ब्रह्म में विचरना अर्थात् ब्रह्म-विद्या का श्रवण करना। यह मोक्ष का प्रथम पड़ाव है। यहीं से कल्याण का पथ प्रारम्भ होता है और यही ज्ञान की प्रथम भूमिका 'शुभेच्छा' है। अब इस पड़ाव के बाद गृहस्थ का नम्बर आता है।

स्त्री, बाल-बच्चों के साथ घर में निवास करने का नाम गृहस्थ है अथवा शरीर या संसाररूपी गृह में निवास करने को भी गृहस्थ कहते हैं। तात्पर्य यह कि जहाँ एक शरीर में ही

स्वयं को बद्ध या सीमित मानता था, वहाँ अब सारे विश्व के प्राणीमात्र के शरीरों में आत्मरूप से व्यापक मानने लगता है अर्थात् ब्रह्मविद्या के मनन करने या संसार के सत्-असत् स्वरूप के विवेक अथवा शरीर की परिच्छिन्न दृष्टि को हटाकर आत्मा की सर्वदेशीय व्यापक स्थिति में स्थित होने को गृहस्थ कहते हैं।

वानप्रस्थ—वान+प्रस्थ=वानप्रस्थ। वन में रहने का नाम वानप्रस्थ है। वन उस स्थान को कहते हैं कि जहाँ किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति, भोग-विलास के साधन, पांच विषय व्यावहारिक रूप में न हों। ऐसे ही स्थानों के सेवन का नाम वानप्रस्थ है अर्थात् विषय-वासना से उपरत होकर, भगवत् भजन करते हुए वन में जीवन यापन करने का नाम वानप्रस्थ है। एक, पूर्ण ब्रह्म में मन के स्थित करने को ही निदिध्यासन यानी वानप्रस्थ अवस्था कहते हैं।

संन्यास—संन्यास का शब्दार्थ है 'त्याग' अर्थात् अनात्म-अभिमान सहित 'द्वैत' या अविद्या का त्याग जिसमें उपरोक्त तीनों आश्रमों अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनों को क्रमशः पार करता हुआ अन्तिम (चौथे) पड़ाव संन्यास में साधक आत्मानुभव की परिपक्व धारणा या असम्प्रज्ञात समाधि कोप्राप्त कर लेता है। नाना प्रकार के नाम-रूपात्मक जगत् को अपना स्वरूप अर्थात् ब्रह्मरूप अनुभव करने लगता है। यही है जगत् का त्याग अर्थात् वास्तविक संन्यास! नाना प्रकार के

साम्प्रदायिक वेश-भूषा का नाम संन्यास या चतुर्थ आश्रम नहीं है। ये सब तो साम्प्रदायिक, काल्पनिक या बनावटी चिह्न हैं।

जिस प्रकार आजकल चतुर्थ आश्रम के अन्तर्गत सैकड़ों, हज़ारों सम्प्रदाय प्रचलित हो रहे हैं,—ये सब उपाधियाँ तो कल्याण, सुख या शान्ति के बजाय उलटे नाना प्रकार के पक्षपात, राग-द्वेष, देहाध्यास, अनात्माभिमान, विक्षेप आदि की जीवन-पर्यन्त अधिकाधिक वृद्धि कराती रहती हैं।

आज तक जिन-जिन महापुरुषों को ईश्वर अर्थात् मोक्ष के वास्तविक सुख-शान्ति की प्राप्ति हुई है,—उन्हें नाना प्रकार के पतन करने वाले देहाभिमानों, सम्प्रदायों, वर्णों, आश्रमों के पक्षपातों को त्यागने से ही हुई है। वास्तविक मिलाप सजातीय का ही होता है। विजातीय का कभी भी परस्पर मेल नहीं हो सकता। इसलिये यदि हम लोग परमात्मा को मिलना चाहते हैं तो जिस प्रकार से परमेश्वर प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय, समाज, देश, ऊंच-नीच इत्यादि अविद्या के काल्पनिक मिथ्या कार्यों तथा अनात्माभिमान से अतीत, नित्य शुद्ध, चेतन स्वरूप, पूर्ण है, इसी प्रकार से हमें भी प्रत्येक अनात्माभिमान को परित्याग करके अपने आपको केवल शुद्ध, चेतन स्वरूप आत्मा ही मानना पड़ेगा।

जो वर्ण से प्राणीमात्र, आश्रम से सारा जगत्, सम्प्रदाय से विश्वप्रेम और जाति से मनुष्यमात्र को मानता हुआ संसार में एकता की भावना से विचरता है, वही ईश्वर या विश्व का सच्चा भक्त,

आत्मज्ञानी, योगी या सच्चा मनुष्य कहला सकता है। इतरों को तो शास्त्रकारों ने 'नरपशु' की ही उपाधि प्रदान की है।

देश

राष्ट्राभिमान का पक्षपात भी बड़ा भयङ्कर हानिकारक है। आजकल एक राष्ट्र वाले दूसरे राष्ट्र को नाना प्रकार के छल, बल, शक्ति, विज्ञान इत्यादि के द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर देने पर तुले हुए हैं अथवा समय-समय पर एक-दूसरे राष्ट्र के साथ संघर्ष या रक्त-पात होता ही रहता है कि जिससे सैकड़ों, हज़ारों वर्षों की संचित शक्ति तथा समृद्धि का सत्यानाश हो जाता है। फिर वह राष्ट्र सैकड़ों वर्षों तक पनपने में नहीं आता।

सन् ३९ से लेकर ४५ तक के विश्वयुद्ध में जितनी हानि हुई, उसका क्या कुछ अन्त है? उस युद्ध में जितना धन नष्ट हुआ, उसका अनुमान लगाया जाता है कि सारे संसार के ३०० करोड़ यानी ३ अरब मनुष्यों को यदि उतना धन बराबर-बराबर विभक्त किया जाता तो हर एक के भाग में एक-एक करोड़ रुपया आता। इसी प्रकार से अन्य वस्तुओं का भी अनुमान लगा लेना चाहिए। यही सारी सामग्री यदि विश्व की उन्नति या भलाई में लगाई जाती तो मैं समझता हूँ कि भूख, बेकारी सर्वथा समाप्त होकर सारा जगत् स्वर्ग के रूप में बदल जाता।

इसका नाम देशभक्ति नहीं है। यह तो देश-द्रोह से भी अति भयङ्कर बात है। इसलिए केवल अपना 'देश-पक्ष' व्यक्तिगत स्वार्थ या अज्ञान का ही परिणाम है। वास्तविक रूप से मनुष्य

को चाहिए कि समस्त जगत् को अपना राष्ट्र समझे और द्वैत-भावना को निकाल कर व्यापक समता की भावना को लाने का सत्प्रयास करे। तभी मानवमात्र का कल्याण सम्भव है।

परिवार

कुटुम्ब की ममता, राग, मोह, आसक्ति आदि से सब लोग घिरे रहते हैं। शास्त्रों में तो दुःख या अशांति का एकमात्र कारण इन्हीं राग, द्वेष, आसक्ति इत्यादि को ही माना है।

यह मनुष्य परिवार के मोह में ऐसा बँध जाता है जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही बनाए हुए कोश में स्वयं ही जकड़ जाता है। फिर उस खोल से निकलना असम्भव हो जाता है। यहाँ तक कि अपनी ही रचना का फल रेशम का वह खोल ही, जिसमें कीड़ा बंद होता है, उस कीड़े के विनाश का कारण बन जाता है, तथापि कीड़ा उससे बाहर नहीं निकल सकता। इसी प्रकार यह मनुष्य भी अपनी ही रची हुई सृष्टि, शरीर एवं परिवार में आसक्त होकर जीवन पर्यन्त इन्हीं के लिए नाना प्रकार के अनर्थ करता हुआ मृत्यु को तो प्राप्त हो जाता है, किन्तु इनके मोह, आसक्ति का त्याग नहीं कर पाता।

कुछ कीड़े साहस और वीरता से काम लेते हैं तथा खोल को काटकर बाहर उड़ जाते हैं। इसी प्रकार कुछ माई के लाल पुत्र, स्त्री इत्यादि परिवार के बीच में रहते हुए भी ममता एवं आसक्ति से रहित होकर, पद्म-पत्र के समान निर्लेप और शांत रहते हैं।

कहने का भाव यह है कि कुटुम्ब की आसक्ति अपने और दूसरों के अधःपतन का ही कारण होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि घर-परिवार को छोड़, बाबाजी बनकर दर-दर भीख मांगता फिरे। ऐसा करने से तो हानि के सिवाय कुछ लाभ नहीं। हाँ, इनके बन्धन या दुःख से मुक्त होने के लिए व्यक्तिगत परिवार की ममता, राग को समष्टि (सारे विश्व के) परिवार के साथ जोड़ दे। राग-द्वेष, मोह आदि को प्रेम के रूप में बदल दे।

मोह और प्रेम में केवल इतना ही अन्तर है कि जब तक हमारा प्रेम किसी-न-किसी स्वार्थ को लिए हुए, थोड़े-से व्यक्तियों में ही हो तो वह मोह या राग कहलायेगा और जब निःस्वार्थ-भाव से विश्व के प्राणीमात्र को अपना परिवार मान लें, तो यही राग या मोह परम शुद्ध, पवित्र प्रेम कहा जायेगा। तब यही मोक्ष या शान्ति का कारण बन जाता है।

परिवार के अन्तर्गत सबसे अधिक आसक्ति परस्पर स्त्री, पुत्र, बन्धु, बान्धव में ही होती है। आसक्ति के इन प्रधान साधनों को मोक्ष या शान्ति का साधन कैसे बना सकते हैं ?

स्त्री

स्त्री कहते हैं पत्नी को, जिसका अर्थ होता है बेड़ी। बेड़ी दो प्रकार की होती है,—एक जो यात्रियों को नदी से पार करती है और दूसरी वह जो कैदियों के पैर में डाली जाती है। खड्ग के द्वारा चाहें तो अपना विनाश कर लें और चाहें तो शत्रु को मार कर विजय प्राप्त कर लें। इसी प्रकार से स्त्री भी है। यह भी दोनों

प्रकार का काम करती है। जो लोग स्त्री को विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिये भोग्य मानकर इसमें आसक्त होते और केवल विषय-भोग की पूर्ति करते हुए कुत्ते-सूअरों की भांति दर्जनों बच्चे ही पैदा करते हैं,—उन लोगों के लिए स्त्री कैदियों वाली बेड़ी का काम करती है। अपना ही विनाश करने के लिए खड्ग का काम करती है।

जो महानुभाव पत्नी को अपनी जीवन-सङ्गिनी अर्थात् संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए सहायक या साधन मानते हैं, विषयासक्ति को त्याग कर कामरूप विक्षेप की निवृत्ति के लिए महीने में केवल एक या दो बार औषधि रूप से सन्तानोत्पत्ति के निमित्त ही उसका सेवन करते हैं,—उन लोगों के लिए स्त्री पार लगाने वाली बेड़ी अथवा धर्म-रक्षा के निमित्त खड्ग रूप बन सकती है। वे परस्पर के सहयोग से कल्याण प्राप्त कर परम पद के अधिकारी बन सकते हैं।

शारीरिक सम्बन्ध के अतिरिक्त भी पति-पत्नी परस्पर में यदि यह समझें कि आत्मा एक होने से हमारा नित्य का सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध और आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना ही परम कल्याण व परम शान्तिरूपी 'मोक्ष' है। इस आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव होने में पति-पत्नी का सम्बन्ध और परस्पर में अनन्य प्रेम होना ही परम साधन है, क्योंकि आत्मा परम प्रेम का आस्पद अर्थात् प्रेम रूप है।

यह एक अटल नियम है कि जिस वस्तु में अत्यन्त प्रेम होता है, उसके द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होना बड़ी शीघ्रता-पूर्वक सुगम हो जाता है और चित्त की वृत्ति का निरोध होना ही 'आत्म-साक्षात्कार' यानी 'ईश्वर-दर्शन' में मुख्य कारण हैं।

विशेष प्रेम उस वस्तु में हुआ करता है जिसमें आनन्द का अनुभव अधिक हो। आनन्द का अधिक अनुभव उस वस्तु में होता है जो आनन्दस्वरूप आत्मा के अत्यन्त निकट हो। आनन्दस्वरूप आत्मा के अत्यन्त निकट वही वस्तु हुआ करती है जिसमें प्रेम और आनन्द अधिक हो, क्योंकि प्रेम या आनन्द आत्मा का अपना स्वरूप है।

संसार के जितने भी सम्बन्ध अथवा आनन्द हैं, उनमें सबसे घनिष्ट सम्बन्ध पति-पत्नि का है। चराचर जगत् का प्रादुर्भाव भी इन्हीं दोनों शक्तियों से होता है, जिसको दूसरे शब्दों में 'पुरुष-प्रकृति', 'ज्ञान शक्ति व क्रिया शक्ति', 'निमित्त व उपादान कारण' भी कहते हैं। साइन्स की भाषा में इसी को 'एलैक्ट्रन व प्रोटन' या 'निगेटिव व पॅाजेटिव' भी कहते हैं। इन्हीं दोनों शक्तियों से चराचर जगत् का प्रादुर्भाव होता है और वह इन्हीं में स्थित है तथा अन्त में इन्हीं में समा जाता है। सारे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कारण या आधारभूत अधिष्ठान यही दोनों शक्तियां हैं जो कि स्वरूप से अभिन्न हैं।

पति-पत्नी का सम्बन्ध व्यावहारिक नहीं अपितु आध्यात्मिक

है। इसीलिये स्त्री को 'धर्म पत्नी' कहा जाता है। धर्म शब्द भी 'धृञ्' धातु से बनता है जिसका अर्थ है धारण करना। चेतनरूप आत्मा को ही धर्म कहा गया है। तात्पर्य यह है कि धर्म-पत्नी अर्थात् आत्मा को पार करने की वेड़ी।

पाति=रक्षतीति=पति अर्थात् जो धर्म की यानी आत्मा की रक्षा करे, उसे पति कहते हैं। जिस प्रकार से बेड़ी को मल्लाह और मल्लाह को बेड़ी, एक ही काल में एक-दूसरे को नदी से पार करते हैं, इसी प्रकार से पति पत्नी का और पत्नी पति की, एक ही काल में एक-दूसरे के रक्षक या उद्धारक हो सकते हैं। किस प्रकार उद्धारक हो सकते हैं? अब इस सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रश्न को बहुत ही सुन्दर रीति से सुलझाया है—'यथा अभिमत ध्यानाद् वा।' तात्पर्य यह कि जो वस्तु अत्यन्त प्रिय हो, उसी वस्तु का ध्यान करो, क्योंकि जिसमें जिसका अत्यन्त प्रेम होता है, उसी का ध्यान बिना किसी कष्ट या परिश्रम के हो सकता है। चारों ओर से वृत्ति हट कर उसी एक में जुड़ जाती है। जिस वस्तु में वृत्ति का निरोध हो जाता है, उस वस्तु में जो व्यापक चेतन आत्मा विद्यमान है, उसका साक्षात्कार बड़ी शीघ्रता एवं सुगमतापूर्वक हो जाता है।

जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समान तो अवश्य है, परन्तु शीशे व जल में अधिक स्पष्ट रूप से विद्यमान रहता है।

इसी प्रकार से ये पांच विषय,—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं। इनमें सूर्य रूपी आनन्द स्वरूप आत्मा का प्राकट्य अधिक है।

प्राणीमात्र का अभीष्ट केवल आनन्द ही है। यहां तक कि अन्य वस्तुओं का तो कहना ही क्या,—ईश्वर, मोक्ष, परम-शांति, स्वर्ग अथवा संसार के किसी भी विषय को जो हम लोग चाहते या प्रेम करते हैं,—तो वह इन पदार्थों के लिये न होकर एक मात्र आनन्द के लिये ही होता है। जहां आनन्द में किंचित् भी अन्तर पड़ा कि फिर वही प्राणप्यारी वस्तु घृणित हो जाया करती है। ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में बतलाते हैं

—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्म-नस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

अर्थात् प्रत्येक वस्तु जो किसी को प्रिय है, वह उस वस्तु के लिए प्रिय नहीं हैं, किन्तु आनन्द स्वरूप आत्मा के लिए सारी ही वस्तुएँ प्रिय लगती हैं। शीशे के साथ हम लोग जो प्यार करते हैं, वह शीशे के लिए नहीं होता, वरन् अपने ही लिए होता है, क्योंकि हम लोग उसमें अपना मुँह या स्वरूप देखते हैं। जब उसी शीशे का 'रोगन' उतर जाता है या वह फूट जाता है तो फेंक दिया जाता है। इसी प्रकार से सारे संसार के मोक्ष व पंच-विषय आदि जितने भी पदार्थ हैं, वे सब अपने आनन्द स्वरूप आत्मा का प्रत्यक्ष करने के लिए एक यन्त्र है। संसार के किसी भी पदार्थ में जो आनन्द-सत्ता है, वह अपना आत्मा ही है।

कहने का अभिप्राय यह है कि स्त्री, पुत्र, इत्यादि जितने भी संसार के पदार्थ पांच विषयों के अन्तर्गत हैं,—वे सारे-के-सारे इस मनुष्य के कल्याण के साधन हैं, न कि बन्धन, दुःख, अशांति व जन्म-मृत्यु के।

हमारे अज्ञान या दुरुपयोग के कारण ही संसार के पदार्थ दुःख व बन्धन के साधन बनते हैं। संखिया विष तो है, किन्तु सदुपयोग किया जाए तो यही विष अमृत का काम देता है और बड़े-बड़े भयङ्कर रोगों से मुक्त कर देता है।

घृत और दूध यद्यपि अमृत हैं तथापि यदि इन्हीं का दुरुपयोग किया जाए तो बड़े-बड़े रोगों या मृत्यु तक का कारण बन जाया करते हैं। अतः कल्याण के जिज्ञासुओं को चाहिए कि संसार की जिस वस्तु में अत्यन्त राग या आसक्ति हो, उसी को ईश्वर का रूप मानकर ध्यान करे।

ईश्वर स्वरूप अपना आत्मा सब में ओत-प्रोत है। इसीलिए राग वाली वस्तु के द्वारा शीघ्रता तथा सुगमता पूर्वक वृत्ति, का निरोध हो जाने पर, उसी वस्तु के अन्तर्गत जो विद्यमान चेतन आत्मा है, उसका प्रत्यक्ष हो जाता है और फिर उसी आत्मा के साथ सर्व का अभेद रूप में अनुभव हो जाता है। जैसे कि एक स्वर्ण के भूषण में, भूषण के आत्मा स्वर्ण का प्रत्यक्ष हो जाने पर, संसार में जितने भी भूषण हैं, उन सबके आत्मा स्वर्ण का अनुभव हो जाता है।

सारा जगत् ब्रह्मरूप है, तो फिर संसार के विषय अथवा कोई

भी पदार्थ माया के कार्य, बंधन तथा दुःख के कारण विषवत् कैसे हो सकते हैं ?—कदापि नहीं। यह सब ऐसे अज्ञानियों की कल्पनाएं हैं जिन्हें जगत् के वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा का बोध नहीं है।

धार्मिक शास्त्र यह बतलाते हैं कि स्त्री को चाहिए कि पति को साक्षात् ईश्वर, कल्याणकर्ता, परम पवित्र माने और उसी को केवल पुरुष समझे,—सारे जगत् के शेष पुरुषों को स्त्री माने। हर प्रकार से अपने पति की आज्ञा का ही पालन करती हुई पति-व्रत धर्म का पालन करे। ऐसा करने से ही स्त्री का कल्याण हो सकता है। अन्य किसी प्रकार के साधन की स्त्री को कोई आव-श्यकता नहीं। यदि इस प्रकार के पातिव्रत धर्म पालन करने से स्त्री का परम कल्याण हो सकता है, तो पुरुष का कल्याण भी अन्य किसी प्रकार का साधन किए बिना, केवल पत्नीव्रत धर्म पालन करने से ही अवश्मेव हो सकता है।

अर्थात् अपनी प्राण प्यारी पत्नी को साक्षात् लक्ष्मी या आद्य शक्ति, पूर्ण शक्ति, महा शक्ति, ब्राह्मी शक्ति, जगज्ज-ननी मातेश्वरी, पूर्ण ब्रह्मस्वरूपा प्रकृति मानता हुआ, 'मेरे कल्या-ण के लिए वही पूर्ण परमेश्वर पत्नी का रूप धारण करके आया है',—इस प्रकार का ध्यान वा निश्चय करने से पत्नी में जो पूर्ण ब्रह्म आत्मा विद्यमान है, उसका अवश्यमेव साक्षात्कार हो जाएगा। आत्मा का साक्षात् होना ही मानव का कल्याण है।

पुत्र

'पुं नाम नरकात् त्रायते इति पुत्रः' अर्थात् जो अपने माता पिता को 'पुँ, नाम वाले नरक से तारे यानी मुक्त करे, उसी को पुत्र कहते हैं, न कि मल-मूत्र के पिण्ड को पुत्र कहते हैं। ऋषि-प्रणीत शास्त्रों में ऐसा लेख आया है कि जो मनुष्य पुत्र-हीन निस्संतान ही संसार से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वह घोर नरक में जाता है अर्थात् उसकी सद्गति नहीं होती।

यदि यही बात सत्य है तो फिर सर्वप्रथम उन साधुओं को नर्क में जाना चाहिए जिन्होंने विवाह द्वारा सन्तानोत्पत्ति नहीं की और सूअर, कुत्ते आदि एक समय में दर्जनों बच्चे पैदा करते हैं, इसलिए इन्हें कल्याण का प्रमाण-पत्र सर्वप्रथम मिलना चाहिए।

ऐसी बातें सुनकर बहुत-से मनुष्य, जिनकी स्त्रियों से पुत्र का जन्म नहीं हुआ, बहुत ही शोकातुर और दुःखी देखने में आते हैं। उन्हें इस बात का बोध नहीं है कि पुत्र का तात्पर्य क्या है? यदि पुत्र का अर्थ यही लिया जाए जो कि प्रायः धार्मिक पण्डित लोग किया करते हैं, तब तो फिर कल्याण के साधन ज्ञान, भक्ति, योग इत्यादि सब व्यर्थ हैं। किसी भी साधन की फिर तो कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि ९९ प्रतिशत मनुष्य पुत्र वाले ही होते हैं। फिर तो बिना किसी साधन व कष्ट के सब का उद्धार हो ही जावेगा।

इस प्रकार वेद का सिद्धांत—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' व्यर्थ ही हो जायगा। इसलिए पुत्र का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि बिना पुत्र के पिण्डदान, श्राद्ध, तर्पण इत्यादि कौन करेगा और बिना श्राद्ध के पितरों का कल्याण कैसे होगा? यदि ऐसा माना जाए तो फिर तो सारे संसार के ३ अरब मनुष्यों में से ७० करोड़ बौद्ध, ४५ करोड़ ईसाई, ३० करोड़ मुसलमान आदि सभी नरक में ही जायेंगे। केवल अधिक-से-अधिक १० करोड़ हिन्दुओं का ही कल्याण होना चाहिये, क्योंकि इनके अतिरिक्त और कोई श्राद्ध आदि से कल्याण नहीं मानते।

कुरान, बाइबिल, त्रिपिटक आदि अन्य मतावलम्बियों के जितने धार्मिक ग्रंथ हैं, जिन्हें वे लोग ईश्वरीय वाणी मानते हैं, वे सभी व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिए ये सब कल्याण के साधन नहीं हो सकते। हां, स्वार्थसिद्धि के साधन तो अवश्य ही हो सकते हैं। अतः अब मैं पुत्र, श्राद्ध, तर्पण इत्यादि का वास्तविक तात्पर्य बतलाता हूँ।

पुत्र अर्थात् नरक या दुःख से जो मुक्त करे। इन पुत्रों से तो माता-पिता उलटे नरक के भागी बनते हैं, क्योंकि पुत्र उत्पन्न करने में और उसे चरित्रहीन, दुष्ट, सुयोग्य अथवा चरित्रवान् बनाने में माता-पिता ही प्रधान कारण होते हैं।

माता-पिता यदि चाहें तो पुत्र कोदेवता या राक्षस बना सकते हैं। पुत्र के द्वारा ज़ितना भी अनर्थ या पाप होगा, उसके भागी अवश्यमेव माता-पिता भी हो सकते हैं। इसलिए पुत्र का वास्त-

विक अर्थ यह है कि जीवरूपी पिता, बुद्धि रूपी पत्नी के द्वारा, विवेक रूपी पुत्र उत्पन्न करता है। वह पुत्र विवेक श्राद्ध यानी श्रद्धापूर्वक पिण्डदान करता है अर्थात् पिण्ड कहते हैं इस शरीर को। तीनों शरीरों में जो परिच्छिन्न या अनात्माभिमान है, इसको ब्राह्मण यानी ब्रह्मनिष्ठ गुरु को दान कर देना ही पिण्डदान है। इससे उस पुत्रविवेक के माता-पिता अर्थात् बुद्धि और जीव का कल्याण अवश्य हो जाता है।

मुझे बाध्य होकर कहना पड़ता है कि वेदों एवं शास्त्रों में ऋषि-मुनियों ने हम लोगों के लिए उन्नति, सुख, शांति एवं कल्याण के जो मार्ग तथा साधन बतलाये थे, हम लोगों ने अन-भिज्ञता अथवा स्वार्थ के कारण उनके अर्थ का अनर्थ कर लिया है। अन्ध-परम्परा एवं रूढ़िवाद के द्वारा धर्म-कर्म और ईश्वर को व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए हमने व्यापार की वस्तु बना लिया है। परिणाम स्वरूप देश अथवा मानव-समाज के लिए हानि के अतिरिक्त इनसे किसी भी प्रकार का कोई लाभ नहीं।

यदि मनुष्य किसी भी कार्य को करने से प्रथम निम्नलिखित कसौटी के द्वारा परिणाम का विचार कर लिया करे तो धर्म और उसके अनुयायियों से देश तथा समाज को इतनी हानि न पहुँचे। अभिप्राय यह है कि अन्ध-परम्परा से बहुत-से ऐसे कर्म होते हैं कि जिनके ऊपर धर्म का रंग चढ़ा दिया जाता है। उन्हीं को परि-णाम बिना देखे ही हम लोग करते जा रहे हैं।

आप लोगों के समक्ष यदि किसी भी प्रकार का विधि-निषेधा-

त्मक धार्मिक कार्य या किसी प्रकार का कोई नियमादि, कोई भी धर्माचार्य, किसी भी पुस्तक का प्रमाण देकर करने या न करने को कहे, तो उसे करने या न करने से प्रथम तत्क्षण यह प्रश्न करो कि इस काम को क्यों करूँ और क्यों न करूँ ?

यदि वह किसी भी प्रकार की कोई हानि या लाभ बतलावे तो फिर प्रश्न करो कि क्या यह हानि अथवा लाभ वर्तमान जन्म में ही अनुभव में आ सकता है या नहीं ? यदि अनुभव में आता है तो और बहुत-सेमनुष्य जो उसे करते आ रहे हैं अथवा अन्य मतालम्बियों की भाँति नहीं भी करते,—उन्हें उससे अभी तक क्या क्या हानि या लाभ हुए ? यदि नहीं हुए तो आपके धर्म-ग्रंथ का प्रमाण या कथन सर्वथा अनुचित एवं विरुद्ध ही नहीं, किन्तु व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि का कारण भी है। इस प्रकार किसी भी परिणामशून्य साधन के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।

मान-प्रतिष्ठा

यह भी एक ऐसी वासना है कि जिसके लिए मनुष्य सर्वस्व बलिदान कर देता है,—यहाँ तक कि इसके लिए लोग प्राणों को भी विसर्जन कर दिया करते हैं। सारे दुर्गुणों को त्याग देना अथवा जीत लेना सुगम है, परन्तु मान-प्रतिष्ठा का त्यागना, असम्भव तो नहीं, अत्यन्त कठिन अवश्य है। अतः अब उस मान-प्रतिष्ठा का दो प्रकार से विचार प्रस्तुत किया जाता है,—एक आधिभौतिक और दूसरा आध्यात्मिक अर्थात् शारीरिक तथा आत्मिक। प्रथम शारीरिक प्रतिष्ठा का विचार किया जाता है।

शरीर को ही आत्मा मानकर यश, कीर्ति, राज्य, सम्राट्, ऋद्धि, सिद्धि, विद्वान्, योगी, ज्ञानी, भक्त, तपस्वी, अनुभवी इत्यादि उपाधियों को प्राप्त करके यह इच्छा रखनी कि मेरे बराबर संसार में और कोई दूसरा किसी भी बात में उत्कृष्ट न हो। एक मैं ही सब बातों में बढ़-चढ़कर हो जाऊँ। ऐसी प्रतिष्ठा की इच्छा मनुष्यों को क्यों हुआ करती है?—इसलिए कि सर्व का अपना आप आत्मा ही सबसे अधिक महान प्रतिष्ठित है।

इस आत्मा से बढ़कर और कोई माननीय नहीं है। इसलिए यदि इन सारी उपाधियों को विशेष और अद्वितीय रूप में आनन्दमयी बनाना है, तो इन्हें केवल उपाधि रूप से प्राप्त न करे, वरन् आत्मा अर्थात् सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्मरूप से उपासना करके प्राप्त करे। तभी यह उपाधियां ब्रह्मरूप होने से नित्य सुख-शान्ति का कारण बनती हैं और फिर इनका वियोग कभी नहीं होता क्योंकि आत्मा का सम्बन्ध नित्य का है। इसीलिए ऋषि याज्ञवल्क्य जी ने बृहदारण्यक उपनिषद् में कथन किया है—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद,
क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद,
लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद,
देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद,
भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद,
सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद,

इदं ब्रह्म. इदं क्षत्रं, इमे लोकाः, इमे देवाः, इमे वेदाः,
इमानि सर्वाणि भूतानि, इदं सर्वं यदयमात्मा ॥

(बृ० उप० २-४-६)

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, वेद आदि जगत् के अन्तर्गत ये सब उपाधिरूप से हैं। इन सबको जिन्होंने आत्मा से पृथक् (भिन्न) समझा, वे निश्चित् ही धोखा खायेंगे। उनका कल्याण कदापि न होगा, क्योंकि जितने भी स्थूल से लेकर सूक्ष्म स्तम्ब पर्यन्त भूतवर्ग हैं, यह सब उस एक अद्वैत आत्मा से ही ओत-प्रोत हैं। वेद डंके की चोट से यह कह रहा है—'इदं सर्वं यद्, अयं आत्मा'—यह जो कुछ दिखाई देता है, सब आत्मा ही है। आत्मा से अतिरिक्त नाम-रूप कुछ भी नहीं है।

इस सबका अभिप्राय यह है कि यदि दृश्यमान नाम-रूपात्मक वस्तुओं को स्थान-भ्रष्ट कर दिया जाय तो वे दुःख का कारण बन जाती हैं और यदि उचित स्थान पर लगादी जाएँ तो वे ही सुख का साधन बन जाती हैं।

उदाहरणार्थ—तांगे के आगे घोड़े को जोड़ा जावे तो सुख-पूर्वक गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाएगा, परन्तु यदि घोड़े के आगे तांगा जोड़ दिया गया तो महान् दुःख का साधन बन जायगा। सिर की पगड़ी पैर में और पैर की जूती सिर पर बांध ली जावे, कोट-कमीज आदि पैर में और धोती-पाजामा आदि हाथ में पहन लिया जावे तो यह विपरीत क्रम दुःख या हंसी का ही

साधन बनेगा। यदि इन्हीं वस्तुओं को अपने-अपने समुचित स्थान पर सन्निवेश किया जाय तो ये ही सुन्दरता एवं सुख का साधन बन जायेंगी।

" उदर की जठराग्नि अपने उचित स्थान को त्याग कर त्वचा में प्रवेश कर जावे तो वह ज्वर का रूप धारण कर लेती है और महान् दुःख एवं मृत्यु का कारण बन जाती है। वही जठराग्नि यदि अपने वास्तविक उचित स्थान पर आ जाती है, तो पाचन क्रिया के द्वारा स्वास्थ्य प्रदान कर सुख पहुँचाने लगती है।

इसी प्रकार से संसार की इन सारी उपाधियों को इनके वास्तविक स्थान अद्वैत आत्मा में सजा देवें तो ये समस्त पदार्थ महान् सुख-शान्ति एवं परम कल्याण के साधन बन सकते हैं। इन्हीं उपाधियों को स्थान-भ्रष्ट अर्थात् शरीर में आरोपित करके घटाने से यही नाना प्रकार के दुःख एवं जन्म-मृत्यु की कारण बन सकती हैं, क्योंकि शरीर नाशवान् होने से उसको प्राप्त वस्तुएँ भी अवश्यमेव नष्ट हो जावेंगी।

तात्पर्य यह है कि इन सब पदार्थों का उचित स्थान अद्वैत, पूर्ण ब्रह्म ही है। जो मनुष्य संसार के सारे पदार्थों की सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप से, (जो कि अपना स्वयं आत्मा ही है) आदर बुद्धि से उपासना या उपभोग करता है, वह परमानन्द को प्राप्त होकर जन्म-मृत्यु से विमुक्त हो जाता है। पुनः इन सब पदार्थों का नित्य-सम्बन्ध हो जाता है, क्योंकि पूर्ण ब्रह्म से इनकी कोई पृथक सत्ता नहीं है। श्रुति भी यही कहती है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—'नेह

नानास्ति किंचन'—अर्थात् यह समस्त जगत् ब्रह्म रूप है। ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है।

संसार के नाशवान् पदार्थ दुःखप्रद तभी प्रतीत होते हैं जब हम उनको परमात्मा से पृथक् एवं माया का कार्य समझते हैं। ऊपर किये हुए विचार के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टिकोण से केवल एक ज्ञान-स्वरूप त्रिकालाबाध्य सत्-चित्-आनन्द स्वरूप अपने आत्मा की ही प्रतिष्ठा है, जो नाना प्रकार के सांसारिक विषयों के रूप में मूर्तिमान् हो रहा है।

देहाभिमान त्यागकर सर्वरूप अद्वैत आत्मा में ही प्रतिष्ठित होना चाहिए। यही 'अद्वैत-दर्शन' का चरम अभिप्राय है।

समाप्त

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान—

१—परमार्थ-निकेतन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) उ०प्र०

२—विज्ञान प्रैस, ऋषिकेश (उ० प्र०)

—: मुद्रक :—

श्री देवेन्द्र विज्ञानी, विज्ञान प्रैस, ऋषिकेश (उ०प्र०)